FOR REVIEW

जैन योग

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

मुनि नथमल

जैन योग

आशीर्वचन

आध्यात्मिक व्यक्ति सत्य का अन्वेषी होता है। वह अपने चारों ओर बिकीर्ण सूक्ष्म सत्यों तथा अज्ञात रहस्यों को जानने के लिए चेतना के सूक्ष्मतम स्तरों से गुजरता है। सत्य को पाने से पहले वह अपनी खोज के लिए समर्पित होता है। अन्तश्चेतना की बेचैन अन्वेषणा मे वह अपने आपको खो देता है। इससे उसकी चेतना के केन्द्र में एक व्यापक विस्फोट होता है और वह आत्म-साक्षात्कार के अनिर्वचनीय आनन्द में डूब जाता है। उसकी समस्त प्रज्ञा जागृत हो जाती है। वह अज्ञात को ज्ञात कर यथार्थ के उस धरातल पर पहुंच जाता है, जहां सत्य को जाना नही जाता, जिया जाता है। इस स्थिति तक पहुंचने के लिए एक विशेष प्रक्रिया से गुजरना होता है, जो 'योग साधना' इन दो शब्दों मे समा जाती है।

योग साधना वर्तमान युग की बहु-चर्चित और बहु-प्रयुक्त प्रक्रिया है। तेरापंथ धर्म-संघ मे पिछले कई दशकों पूर्व इसका पुनर्मूल्यांकन हो चुका था, फिर भी 'जैन योग' के रूप मे एक स्वतंत्र साधना पद्धति की व्यवस्थित प्रस्तुति हमारे पास नही थी।

मैंने सन् १९६२ उदयपुर चातुर्मास मे मुनि नथमलजी से इस संबंध मे गहरा अनुसंधान करने के लिए कहा। उनकी बचपन से ही यह वृत्ति रही है कि वे मेरे हर निर्देश के प्रति स्वाभाविक रूप से समर्पित रहते हैं। जब भी उनको किसी कार्य के लिए कहा जाता है, वे विना ऊहापोह किये उसकी क्रियान्विति को प्राथमिकता देते हैं। साधना उनकी विशेष रुचि का विषय था। मेरे निर्देश का योग मिलने से वह अधिक पुष्ट हो गयी। उनके अनुसंधान की विधा रही—शास्त्रों का दोहन, तथ्यों का समाकलन, पद्धति का निर्धारण, वैज्ञानिक तथ्यों के साथ तुलना, प्रयोग और अनुभव। इन सबके आधार पर एक परिष्कृत पद्धति का स्थिरीकरण हुआ, जो आज 'प्रेक्षा ध्यान साधना' के नाम से प्रयुक्त हो रही है।

उस 'प्रेक्षा ध्यान' की पूरी प्रक्रिया ही 'जैन योग' है। यह एक चिरंतन प्रश्न का समाधान है और है अंतर्यात्रा का सोपान। इसका प्रारम्भ होता है अस्तित्व-बोध के आत्मलक्षी बिंदु से और अग्रिम बिंदुओं में है आभा-मंडल, कुण्डलिनी, चैतन्य केन्द्र आदि का शारीरिक, वैज्ञानिक तथा यौगिक दृष्टि से विश्लेषण। पद्धति और उपलब्धि की चर्चा के साथ इसके परिशिष्ट भाग में भगवान् महावीर के साधना प्रयोगों और आचारांग में उपलब्ध प्रेक्षा ध्यान के तत्त्वों को समाविष्ट कर पुस्तक की उपयोगिता को और अधिक बढ़ा दिया गया है।

'जैन योग' स्वाध्याय की ही नहीं, प्रयोग की भी प्रक्रिया है। इसके पाठक अपने मन की जागरूकता, आत्मा की समता और चित्त की निर्मलता को उत्तरोत्तर विकसित करते हुए तनाव-मुक्त जीवन जीने में सफल हों, यही शुभाशंसा है।

आचार्य तुलसी

जैन विश्व भारती,
लाडनूं
१ अप्रैल, १९७८

प्रस्तुति

जैन विद्वानों के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता रहता है कि क्या जैन परम्परा में योग मान्य है ? क्या योगदर्शन जैसा कोई ग्रंथ है ? इन दोनों प्रश्नों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विमर्श अपेक्षित है।

भारत मे तीन मुख्य धर्म-परम्पराएं थी—वैदिक, जैन और बौद्ध। अवांतर रूप में अन्य भी अनेक परम्पराएं थीं। उनकी अपनी-अपनी साधना-पद्धति थी। अष्टांगयोग सांख्यदर्शन की साधना-पद्धति है। सभी धर्मों ने अपनी साधना-पद्धति को भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया था। जैन-धर्म की साधना-पद्धति का नाम मुक्ति-मार्ग था। उसके तीन अंग है—

१. सम्यक्-दर्शन
२. सम्यक्-ज्ञान
३. सम्यक्-चारित्र

महर्षि पंतजलि के योग की तुलना में इस रत्नत्रयी को जैन योग कहा जा सकता है। यह बहुत स्पष्ट है कि जैन धर्म की साधना-पद्धति मे अष्टांगयोग के सभी अंगों की व्यवस्था नहीं है। प्राणायाम, धारणा और समाधि का स्पष्ट स्वीकार नहीं है। यम, नियम, आसन, प्रत्याहार और ध्यान—इनका भी योग-दर्शन की भांति क्रमिक प्रतिपादन नहीं है। जैन धर्म की साधना-पद्धति स्वतंत्र है, इसलिए उसकी व्यवस्था भी भिन्न है। उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन में मुक्ति-मार्ग का संक्षिप्त किंतु व्यवस्थित प्रतिपादन है। उसके २९,३० व ३२वें अध्ययन में भी साधना का पथ-निर्देश है। उत्तराध्ययन उत्तरवर्ती आगम है। प्राचीन आगमों में आचारांग (प्रथम) का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें जैन धर्म की साधना-पद्धति का बहुत सूक्ष्म व मार्मिक प्रतिपादन है। सूत्रकृतांग, भगवती व

स्थानांग में भी प्रकीर्णरूप से भावना, आसन, ध्यान आदि का निर्देश मिलता है। औपपातिक में तपोयोग का व्यवस्थित प्रतिपादन है। तपोयोग सम्यक्-चारित्र का ही एक प्रकार है।

आगम-साहित्य में साधना-तत्त्वों के बीज मिलते हैं। उनका विस्तार और प्रक्रियाएं प्राप्त नहीं हैं। उनका विलोप कैसे हुआ ? यह अभी प्रश्नचिह्न ही बना हुआ है। भद्रबाहु स्वामी ने द्वादशवर्षीय 'महाप्राणध्यान' की साधना की थी। अन्य आचार्यों के विषय में भी 'सर्वसंवरयोगध्यान' की साधना का उल्लेख मिलता है। आगमिक साधना का स्वरूप हमें उपलब्ध है किंतु उसका विधि-तंत्र उपलब्ध नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द (विक्रम की प्रथम शताब्दी) ने समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रंथों की रचना कर जैन-परम्परा में साधना का नया क्षेत्र खोला। किंतु मुक्तिमार्ग का समग्रदृष्टि से एक ग्रंथ में प्रतिपादन करने का श्रेय उमास्वाति (वि० २-३) को ही है। उनका मोक्षमार्ग (तत्त्वार्थ सूत्र) आगम साहित्य और उत्तरवर्ती साहित्य के मध्य की कड़ी है। उसमें मुक्तिमार्ग के अंगों का सविस्तार प्रतिपादन है।

साधना की प्रक्रियाओं का विस्तार हमें निर्युक्ति साहित्य में मिलता है। उसका सांगोपांग वर्णन आवश्यकनिर्युक्ति के कायोत्सर्ग-अध्ययन में मिलता है। इसके रचनाकार है द्वितीय भद्रबाहु स्वामी और इसका रचनाकाल विक्रम की चौथी-पांचवीं शताब्दी है।

मानसिक एकाग्रता की दूसरी भूमिका ध्यान है। उसका विशद विवेचन जिनभद्र गणी (छठी शताब्दी) के 'ध्यान शतक' में मिलता है। ये दोनों रचनाएं योगदर्शन तथा हठयोग के अन्य ग्रंथों से प्रभावित नहीं हैं। इनमें जैन-परम्परा का स्वतंत्र चिंतन परिलक्षित होता है।

पूज्यपाद देवनंदि (चौथी-पांचवीं शताब्दी) का 'समाधितंत्र' आध्यात्मिक अनुभूतियों का अजस्र स्रोत है। 'इष्टोपदेश' मे भी पूज्यपाद ने गहरी डुबकियां लगायी है। उसे पढ़ने वाला कोई भी व्यक्ति अध्यात्म से तदात्म हुए बिना नहीं रह सकता। पूज्यपाद योगानुभूति की परम्परा के आदिस्रोत हैं। बृहत्कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, मूलाराधना (भगवती आराधना) आदि ग्रंथों में प्रसंगवश कायोत्सर्ग, ध्यान, आसन आदि की चर्चा मिलती है। तत्त्वार्थसूत्र की वृत्तियों—श्लोकवार्तिक, भाष्यानुसारिणी आदि—में भी विशद चर्चा हुई है।

विक्रम की आठवीं शताब्दी से जैन योग में एक नये अध्याय का सूत्रपात होता है। उसके पुरस्कर्त्ता है हरिभद्रसूरी। उन्होंने योग की पद्धतियों और परिभाषाओं का जैन-पद्धतियों से समन्वय स्थापित कर जैन योग को नयी दिशा प्रदान की। उनके मुख्य ग्रंथ हैं—योगबिंदु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगशतक और योगविंशिका।

हरिभद्रसूरी का योग-विषयक वर्गीकरण पूर्ववर्ती जैन साहित्य में प्राप्त नहीं है। अन्य योग-ग्रंथों से भी उन्होंने उधार नहीं लिया है। जैन और योग-परम्परा के संयुक्त प्रभाव से उन्होंने अपने वर्गीकरण की योजना की। उनके अनुसार योग के पांच प्रकार हैं—

१. अध्यात्म
२. भावना
३. ध्यान
४. समता
५. वृत्तिसंक्षय[1]।

नवीं शती में आचार्य जिनसेन ने 'महापुराण' में यत्र-तत्र योग-साधना का निरूपण किया है। ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य रामसेन ने 'तत्त्वानुशासन' की और आचार्य शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' की रचना की। इन दोनों ग्रंथों में योग के और नये उन्मेष मिलते हैं। इस शताब्दी में जैन-योग अष्टांगयोग, हठयोग और तंत्रशास्त्र से अधिक प्रभावित मिलता है। आगमिक युग में धर्म्यध्यान था, वह इस काल में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—इन चार रूपों में वर्गीकृत हो गया। इस वर्गीकरण पर तंत्रशास्त्र का प्रभाव प्रतीत होता है। नवचक्रेश्वरतंत्र मे पिंड, पद, रूप और रूपातीत को जानने वाले को गुरू कहा गया है—

"पिंडं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम्।
यो वा सम्यग् विजानाति सगुरुः परिकीर्तितः॥"

गुरु-गीता मे पिंड का अर्थ कुंडलिनी शक्ति, पद का अर्थ हंस, रूप का अर्थ बिंदु और रूपातीत का अर्थ निरजन किया गया है—

"पिंडं कुंडलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।
रूपं बिंदुरीति ज्ञेयं रूपातीतं निरंजनम्॥"

जैन आचार्यों ने पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—इस वर्गीकरण को स्वीकार किया किंतु उनके अर्थ अपनी परिभाषा के अनुसार किये। चैत्यवंदन भाष्य मे पिंडस्थ, पदस्थ और रूपातीत—ये तीन ही प्रकार मान्य किये गये—

"भावेज्ज अवत्थतियं, पिंडत्थ पयत्थ रूवरहियत्तं।
छउमत्थ केवलित्तं, सिद्धत्तं चेव तस्सत्थो॥"

इनका अर्थ भी शेष ग्रंथों से भिन्न है। भाष्यकार के अनुसार छद्मस्थ

१. योगबिंदु ३१ : "अध्यात्मं भावना ध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद् योगः, एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥"

(आवृतज्ञानी), केवली (अनावृतज्ञानी) और सिद्ध—ये तीन ध्येय हैं। एतद् विषयक ध्यान को क्रमशः पिंडस्थ, पदस्थ और रूपातीत कहा जाता है। उस समय ध्यान के इन प्रकारों से जन-मानस बहुत परिचित हो गया था, इसलिए जैन आचार्यों के लिए भी इनका स्वीकार आवश्यक हो गया था, ऐसा प्रतीत होता है।

इसी (ग्यारहवीं) शताब्दी में सोमदेवसूरी ने भी योग के विषय में कुछ लिखा था। उनका योगसार ग्रंथ बहुत ही मार्मिक है। यशस्तिलकचम्पू के ३६ और ४० वें कल्प में उन्होंने योग विषयक चर्चा प्रशस्त पद्धति से की है। इस शताब्दी के ग्रंथों में पार्थिवी, वारुणी, तैजसी[1], वायवी और तत्त्वरूपवती (तत्त्वभू)—इन पांच धारणाओं की भी मान्यता मिलती है। तत्त्वानुशासन में केवल तीन धारणाओं का उल्लेख मिलता है।

बारहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र में 'योगशास्त्र' की रचना की। उसमें योग और रत्नत्रयी की एकात्मकता प्रतिपादित हुई है।[2] उसमें आचार्य हेमचन्द्र ने योग की पारम्परिक पद्धति का भी निरूपण किया है। स्वानुभव के आधार पर उन्होंने मन के चार रूप प्रस्तुत किए है—

१. विक्षिप्त   ३. श्लिष्ट
२. यातायात   ४. सुलीन

तेरहवी शताब्दी में पंडित आशाधरजी की कृति 'अध्यात्म-रहस्य' प्राप्त होती है। ग्रंथकार ने आध्यात्मिक रहस्यों का व्यवस्थित पद्धति से प्रतिपादन किया है।

पन्द्रहवी शताब्दी की एक कृति मुनि सुन्दरसूरी की है। उसका नाम 'अध्यात्म कल्पद्रुम' है। इसकी शैली प्रक्रियात्मक कम, उपदेशात्मक अधिक है।

अठारहवीं शताब्दी में विनयविजयजी ने 'शान्तसुधारस' की रचना की। भावनायोग की यह सुन्दर कृति है। इसी शताब्दी मे उपाध्याय यशोविजयजी ने योग की सरिता प्रबल धारा से प्रवाहित की थी। उनके योग विषयक अनेक ग्रंथ मिलते है—अध्यात्मोपनिषद्, अध्यात्मसार, योगावतार द्वात्रिंशिका। आचार्य हरिभद्र की योगविंशिका पर उन्होंने टीका लिखी। पातंजल योगसूत्र पर उनकी एक वृत्ति है। उसमें जैन-योग का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

वि० सं० २०१८ मे आचार्यश्री तुलसी ने 'मनोनुशासनम्' लिखा। इसमें

१ तत्त्वानुशासन १८३ : "तत्रादौ पिण्डसिद्धयर्थं निर्मलीकरणाय च।
मारुतीं तैजसीमाप्यां विदध्याद् धारणां क्रमात्॥"

२. योगशास्त्र १।१५ : "चतुर्वर्गेऽग्रणीमोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञानश्रद्धानचारित्र-रूपरत्नत्रयं च सः॥"

जैन योग का एक नयी शैली से प्रतिपादन हुआ है। नमस्कार स्वाध्याय में दो लघुकाय ग्रंथ प्रकाशित हैं। वे जैन-योग के क्षेत्र में नया आयाम प्रस्तुत करते हैं। 'पासनाहचरियं' में एक २१ गाथाओं की ध्यान संबंधी सुंदर कृति है। ज्ञानसार, विद्यानुशासन, वैराग्यमणि शास्त्र, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि अनेक ग्रंथ हैं।

जैन आगमों के गंभीर अध्ययन से हर कोई अनुभव करेगा कि उनमें ध्यान की प्रचुर सामग्री है। ध्यान-परम्परा की विस्मृति और अभ्यास के अभाव में उसका मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है। ध्यान साधना के लिए 'आयारो' (आचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध) पर्याप्त है। उसमें प्रेक्षा या विपश्यना के तत्त्व बहुत स्पष्टता से प्रतिपादित हुए हैं। परिशिष्ट सख्यांक-२ में 'आयारो' के कुछ सूत्र संकलित हैं। उन्हें पढ़कर इस वास्तविकता को समझा जा सकता है। इस पुस्तक में जैन-योग (मुक्ति-मार्ग या संवर-सूत्र) का प्राचीन रूप नये प्रश्नों के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। क्या जैनयोग में चक्रों का स्थान है? क्या कुंडलिनी के संबंध में कोई चर्चा है? ये प्रश्न बहुत बार पूछे जाते रहे हैं और साथ-साथ अनुत्तरित भी रहे हैं। उन अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर खोजने का भी विनम्र प्रयत्न किया गया है।

जैन-योग के दो मुख्य सूत्र हैं—संवर और तप। संवर पांच हैं—सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग। साधना की ये ही पांच भूमिकाएं हैं। गुण-स्थान इन्ही का एक विकसित रूप है। ध्यान तपोयोग का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। साधना का आदि, मध्य और अंत इसके द्वारा ही संपन्न होता है। धर्म-ध्यान को प्रेक्षा ध्यान के रूप में एक नया आयाम दिया गया है, जो जैन साधना-पद्धति के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रस्तुत पुस्तक जैनयोग के विस्मृत अध्यायों की स्मृति का माध्यम बन सकेगी।

आचार्यश्री तुलसी ने योग विद्या के क्षेत्र में अनेक प्रयत्न किये। विस्मृत को स्मृत करने की बलवती भावना, धृति और उत्साह ने हम सबको प्रोत्साहित किया। कुशल, प्रणिधान आदि अनेक प्रयोगों के द्वारा ध्यान-साधना की पद्धति को उपलब्ध करने का प्रयत्न किया गया और आचार्यश्री स्वयं उन प्रयोगों में सतत संलग्न रहे। वे छोटे-छोटे बरगद के बीज आज शतशाखी हो गये और प्रेक्षा ध्यान के रूप में जैनयोग की एक महत्त्वपूर्ण पद्धति प्रचलित हो गई। 'तुलसी अध्यात्म नीडम्' (जैन विश्व भारती) के माध्यम से आयोजित होने वाले शिविरों में उस पद्धति का परीक्षण सफल रहा और साधना करने वालों के मन में साधना के प्रति एक नया आकर्षण पैदा हुआ। इस पुस्तक से जैन-योग के शास्त्रीय स्वरूप को ही नहीं किंतु अनुभूत स्वरूप को जानने मे भी सहयोग मिलेगा।

प्रस्तुत पुस्तक में भाषा और शैली की विविधता है। कहीं गूढ़ भाषा और सूत्रात्मक शैली है तो कहीं स्पष्ट भाषा और विस्तृत शैली है। कहीं-कहीं विषय की स्पष्टता के लिए प्रतिपाद्य की पुनरुक्ति भी है। इसमें साहित्यिक सिद्धांत की

कठोरता नहीं बरती गयी है किंतु साधना के रहस्यपूर्ण विषय की अरहस्यात्मकता समझ में आ सके, इस दृष्टि से भाषा और शैली के प्रतिबंधों की उपेक्षा की गयी है।

मुनि दुलहराजजी ने इसका श्रमसाध्य संपादन कर इसे व्यवस्थित रूप दिया और लिपियों और प्रतिलिपियों का एक जटिल कार्य संभव बनाया।

स्वर्गीय साहू शांतिप्रसादजी जैन कई बार जैन योग के विषय में एक ग्रंथ उपलब्ध करना चाहते थे। उन्होंने मुझे कई बार कहा कि अनेक विदेशी मित्र जैन योग के बारे में जिज्ञासा करते हैं और वे इस विषय में कोई ग्रंथ चाहते हैं। उनके जीवनकाल में उनकी भावना को पूरा नहीं किया जा सका। जैन योग के विषय में आचार्यश्री तुलसी के **मनोनुशासनम्** ग्रंथ की व्याख्या मैंने लिखी। इसी क्रम में मेरे द्वारा लिखित **चेतना का ऊर्ध्वारोहण, महावीर की साधना का रहस्य, मन के जीते जीत, प्रेक्षा ध्यान** आदि ग्रंथ भी प्रकाश में आये। किंतु 'जैन योग' इस शीर्षक की सीमा में जैन साधना-पद्धति को प्रस्तुत करने का प्रयत्न संभव नहीं हो पाया। एक प्रसंग बना और पूर्व-निर्धारित कार्यक्रमों की बहुलता के उपरांत भी यथासमय मैं 'जैन योग' को प्रस्तुत कर सका, यह मेरे लिए प्रसन्नता का विषय है।

मुनि नथमल

लाडनूं
१ जून, १९७८

विषय-संकेत

जैन योग

१

साधना की पृष्ठभूमि

- अस्तित्व का बोध
- अहं का विसर्जन
- क्रियावाद : आस्रव
- प्रतिक्रियावाद : कर्म

अस्तित्व का बोध

"तुम भिखारी नही हो, फिर भीख किसलिए मांग रहे हो ?" ज्योतिषी ने कहा। भिखारी बोला—"दरिद्र हूं, खाने को कुछ नही है इसलिए भीख माग रहा हूं।" ज्योतिषी तेज स्वर मे बोला—"तुम दरिद्र नही हो, तुम्हारे पास बहुत कुछ है।" उसने भिखारी की आकृति पर गहरी दृष्टि डाली। भिखारी उसे आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से देखने लगा। ज्योतिषी मन-ही-मन सोच रहा था कि यदि यह दरिद्र है तो मेरी विद्या मिथ्या है और यदि मेरी विद्या सत्य है तो यह दरिद्र नही हो सकता।

भिखारी मन-ही-मन सोच रहा था कि मैं दरिद्र हूं और यह मुझे धनी मान रहा है। यह कैसा अजीब आदमी है, इतना भी नही समझता कि यदि मै धनी होता तो भीख क्यों मांगता ?

कुछ देर तक दोनो अपने-अपने चिंतन मे डूबे रहे। आखिर ज्योतिषी ने कहा—"चलो, मैं तुम्हारे घर चलना चाहता हूं।" दोनों वहां से चले और भिखारी के घर पहुचे। ज्योतिषी ने उसके विशाल भवन को देखा और उसका विश्वास पुष्ट हो गया। वह बोला—"इतना बडा तुम्हारा घर, फिर तुम दरिद्र कैसे ?" भिखारी ने कहा—'महाराज ! यह पुरखों की थाती है। मेरे पूर्वज बहुत वैभवशाली थे। उनका बनाया हुआ यह मकान है। अब धन समाप्त हो गया। मकान को खा नहीं सकता। खाने के लिए पैसा नही है, इसलिए भीख मागनी पड रही है।"

ज्योतिषी ने फिर वेधक दृष्टि से देखा। वह बोला—"मेरा विद्या कहती है, तुम दरिद्र नहीं हो।" भिखारी ने कहा—"महाराज ! जो हूं वह सामने हूं, मैंने कुछ छिपा नही रखा।"

ज्योतिषी कोई साधारण ज्योतिषी नही था। वह अष्टांग निमित्त को जानता था। उसने विद्या के बल पर भूगर्भ को देखा। उसने भिखारी से कहा—"जाओ, तुम एक कुदाली ले आओ।" वह पड़ोसी के घर से एक कुदाली ले आया। ज्योतिषी

ने कहा—"पूर्व के कोने में जो कमरा है उसके मध्य भाग को खोदो। भिखारी ने उसे खोदा। खुदाई में कुछ भी नहीं निकला। वह बोला—"महाराज! यहां क्या मिलेगा? मैं थक गया हूं। आप मुझे आज्ञा दें कि मैं इसे खोदना बंद कर दूं।" ज्योतिषी बोला—"अभी तुम ऊपर-ऊपर चल रहे हो। थकने से काम नहीं चलेगा। अभी तुम्हें काफी गहराई मे जाना होगा।" भिखारी ज्योतिषी के विश्वास में आ गया था, इसलिए उसने वैसा ही किया जैसा ज्योतिषी का आदेश था। वह गहरा खोदता गया। उसने देखा—मिट्टी के नीचे एक शिलाखंड है। "महाराज! अब शिलाखंड आ गया है, इसे हटाना कठिन होगा। क्या मैं इस खुदाई को बंद कर सकता हूं?" ज्योतिषी ने कहा—"अभी नहीं। इसे हटाओ, और गहरे में उतरो।" उसने कठोर श्रम किया और उस शिलाखड को हटा दिया। कुछ अंतराल के बाद दूसरा शिलाखंड आया। उसे भी हटा दिया। दो शिलाखंड और आये, उन्हे भी हटा दिया। जैसे ही उसने चौथा शिलाखंड हटाया वैसे ही ज्योतिषी चिल्ला उठा—"अरे! मैंने पहले ही कहा था कि तुम दरिद्र नहीं हो। जिसके घर मे करोड़ों की संपत्ति छिपी पड़ी है, वह दरिद्र कैसे हो सकता है?" भिखारी स्तब्ध रह गया। उसे पता ही नहीं था कि उसके घर में इतना सोना, इतने रत्न और इतनी संपदा छिपी पडी है।

एक दिन मेरे पास एक आदमी आया। उसके चेहरे से दु:ख टपक रहा था। मैंने उससे पूछा तो उसने बताया कि मैं दु:खी इसलिए हूं कि मेरे मन मे शांति नही है। और शांति नही है इसलिए सुख भी नहीं है। मैंने उस पर एक गहरी दृष्टि डाली और कहा—"शांति और सुख तुम्हारे भीतर हैं, फिर तुम दु:ख का भार क्यों ढो रहे हो?" मेरी बात सुन वह आश्चर्य मे डूब गया। वह बोला—"यदि मेरे भीतर ही शांति और सुख होते तो मैं दु:ख का भार क्यों ढोता?" मैंने कहा—"मुझे लगता है कि तुम वास्तव मे दु:खी नही हो। तुम्हारे दु:ख का मूल तुम्हारा अज्ञान है। तुम्हारी अशांति का मूल तुम्हारा अपने आप से परिचित नहीं होना है। दूसरों के कपड़ों को पहनकर आदमी कितने समय तक सौंदर्य का प्रदर्शन कर सकता है? बाहरी वस्तुओं के संचय के बल पर आदमी कब तक शांति का अनुभव कर सकता है? तुम अपने अंतर की खोज करो, अभीप्सा को तीव्र करो और गहरे में उतर जाओ। अनुभूति को तीव्र करो और हृदय की गहराई में उतर जाओ। गहराई, गहराई और गहराई में इतने उतरो कि तुम चारों शिलाखंडों को हटा, उनके पार जा सको।"

ज्ञान का आवरण—यह पहला शिलाखंड है।
दर्शन का आवरण—यह दूसरा शिलाखंड है।
सुख की चेतना का आवरण—यह तीसरा शिलाखंड है।
शक्ति का अवरोध—यह चौथा शिलाखंड है।

वह ध्यान के द्वारा उन चारों शिलाखंडों को हटा भीतर गया तो उसने देखा कि शांति की अतल गहराई में सुख का सागर लहरा रहा है।

शांति पर किसी व्यक्ति का एकाधिकार नहीं है। सुख पर किसी व्यक्ति का एकाधिकार नहीं है। वे सार्वजनिक है। उन सबके पास हैं, जिनके पास चेतना है। उन सबको प्राप्त हैं, जिन्होंने अपने भीतर खोजा है और गहराई में उतरने में सफल हुए हैं।

तुम मुझे पूछोगे और किसी बात को छिपाए बिना पूछोगे कि क्या हमारे भीतर शांति और सुख है? मैं इसका उत्तर देने में बड़ी कठिनाई अनुभव कर रहा हूं। यदि मैं कहूं कि तुम्हारे भीतर शांति और सुख नहीं है तो मैं सत्य के साथ न्याय नहीं करूंगा। और यदि मैं कहूं कि तुम्हारे भीतर शांति और सुख है तो तुम मेरी बात पर विश्वास नही करोगे। तुम मुझ पर विश्वास नहीं करोगे, उसके लिए मैं तुम्हे दोष नही दूगा। क्योंकि उस अविश्वास के लिए तुम अपराधी नहीं हो। वह अविश्वास अकारण नही है। तुम्हारे तथा शांति और सुख के बीच में कई सुदृढ दीवारें है। तुम्हारी दृष्टि पारदर्शी नही है, जो उन दीवारो को भेदकर तुम उस पार देख सको। पहली दीवार यह है कि तुम्हें अपने भीतर की संपदा की जिज्ञासा नही है। दूसरी दीवार यह है कि तुम्हें अपनी भीतर की संपदा में विश्वास नही है। तीसरी दीवार यह है कि तुम मे अपनी भीतरी संपदा तक पहुंचने के लिए दृढ संकल्प, प्रयत्न और तन्मयता नहीं है। इस स्थिति में यदि तुम मेरी बात पर अविश्वास करोगे तो मुझे कोई खेद नही होगा।

एक प्रसिद्ध युक्ति है कि कस्तूरी की गंध को मनवाने के लिए सौगन्ध खाने की आवश्यकता नही है—

"नहि कस्तूरिकागंधः, शपथेनानुभाव्यते।"

यही युक्ति यहां लागू होती है कि आत्मा के भीतर शांति और सुख की अजस्र धारा बह रही है, उसे मनवाने के लिए मुझे सौगंध खाने की आवश्यकता नही है। कस्तूरी को घिसने की जरूरत है। सुगन्ध अपने आप फूट जायेगी। अगरबत्ती को जलाने की जरूरत है, सुगन्ध अपने आप फूट जायेगी। 'अहं' और 'मम' को घिसो और जलाओ, वे दीवारें अपने आप ढह जायेंगी और उनकी ओट मे बहने वाली शांति और सुख की धारा गहराई से सतह तक पहुंच जायेगी।

हर आदमी पानी पीता है, इसलिए वह जानता है कि पानी पीने से प्यास बुझती है। हर आदमी रोटी खाता है, इसलिए वह जानता है कि रोटी खाने से भूख शांत होती है। रोटी और पानी तथा उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष है इसलिए हर आदमी उसे जानता है। पानी पिए बिना भी प्यास बुझ सकती है और रोटी खाए बिना भी भूख शांत हो सकती है, यह बात प्रत्यक्ष अनुभव में नहीं है।

इसलिए इसे मानने के लिए कोई तैयार नहीं है। हमारी आत्मा के साथ चार वस्तुएं संबंध स्थापित किये हुए है :

१. सूक्ष्म शरीर, २. स्थूल शरीर, ३. प्राण, ४. मन।

प्रतिपादन की सुविधा के लिए मैं इनको दो वर्गों में संगृहीत कर लेता हूं। शरीर-वर्ग में दोनों शरीर समाविष्ट हो जाते है। प्राण और मन में घनिष्ठ संबंध है इसलिए प्राण मन के द्वारा संगृहीत हो जाता है। तुम इस तथ्य से भली-भांति परिचित हो कि शरीर में रोग पैदा होते है। और मन में भी रोग पैदा होते हैं। किंतु तुम इस तथ्य से परिचित नही हो कि शरीरऔर मन में रोग का उपचार भी सन्निहित है। भूख और प्यास का उपचार भी सन्निहित है। सर्दी और गर्मी का प्रभाव शरीर पर होता है, पर सर्दी और गर्मी के नियन्त्रण की क्षमता भी शरीर और मन मे सन्निहित है। अतिश्रम और स्नायविक तनाव का प्रभाव शरीर और मन पर होता है और इनका उपचार भी शरीर और मन मे सन्निहित है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि शरीर और मन पर होने वाले हर विकार का उपचार उन (शरीर और मन) मे सन्निहित है।

तुम अपनी आंतरिक शक्ति से परिचित नहीं हो, इसलिए उसका उपयोग करने मे सक्षम नही हो। बरगद का वीज कितना छोटा होता है। वह शतशाखी हो सकता है, उसके आकार को देखकर यह अनुमान करना कठिन है। किंतु जब औपधिक अह को विर्सजित कर भूमि के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो जाता है तब वह उस ऊंचाई और विस्तार को प्राप्त करता है जिसकी उसके लघु आकार में संभावना नही की जा सकती।

शरीर की शक्ति फिर भी सीमित है। मन की शक्ति असीम है। मन का शक्तिस्रोत आत्मा है। उसमे अनंत शक्ति विद्यमान है। मूल का सौंदर्य तब तक प्रकट नही होता, जब तक वह पूर्ण रूप मे विकसित नही हो जाता। हाथी और घोड़े अभिवादन करते है, पर वे ही करते है जो शिक्षित होते है। मनुष्य देखता है और बातचीत करता है। किंतु सुप्त अवस्था मे वह न देखता है और न बातचीत करता है। जागरण, शिक्षण और विकास की अवस्था में जो प्रकट होता है वह निद्रा, अशिक्षा और सिकुड़न की अवस्था में नही होता।

"तुम अप्रिय मत मानना। तुमने शरीर को शिक्षित करने का कभी प्रयत्न नहीं किया, इसीलिए तुम शरीर के भीतर छिपी हुई महान् शक्तियों का उपयोग करने से वंचित रह रहे हो। तुमने मन को जागृत करने का कोई प्रयत्न नहीं किया, इसीलिए तुम मन की असीम शक्तियों मे विश्वास करने के लिए दरिद्र हो। तुम्हारी इस अहेतुक दरिद्रता के प्रति मेरे मन मे करुणा है, इसलिए मैं कह रहा हूं कि तुम स्वयं जागो और अपनी सुप्त शक्तियों को जगाओ। मैं यह जानता हूं कि

शक्ति के जागरण की प्रक्रिया को जाने बिना कोई भी आदमी उन्हें जागृत नहीं कर सकता। मैं अभी तुम्हें यह नहीं बताऊंगा कि शरीर और मन के भीतर छिपी शक्तियों को कैसे अनावृत किया जा सकता है? सुप्त शक्तियों को कैसे जागृत किया जा सकता है? अभी इसे बताने का कोई विशेष अर्थ ही नहीं होगा। अभी मेरा लक्ष्य एक ही है, और वह है—आंतरिक शक्तियों के प्रति तुम्हारे मन में अभीप्सा उत्पन्न करना। उनके प्रति तुम्हारे अज्ञान और संदेह को दूर करना।

"अज्ञात के प्रति संदेह होना अस्वाभाविक नहीं है। तुम्हें तुम्हारी शक्तियां ज्ञात नहीं हैं, इसलिए उनके प्रति तुम जो संदिग्ध हो, वह मेरे लिए आश्चर्य की बात नहीं है। मुझे आश्चर्य तब होता है जब इन शक्तियों से अपरिचित आदमी इनके होने में संदेह नहीं करता।

प्रस्तुत चर्चा मे शरीर और मन की शक्तियों का विश्लेषण करना मेरा उद्देश्य नहीं है। यह चर्चा मैंने प्रासंगिक रूप मे या एक उदाहरण के रूप में की है। मैं जो कहना चाहता हूं वह यह है कि जब शरीर और मन की प्रवृत्ति विसर्जित हो जाती है उस समय शांति और सुख का ऐसा स्रोत प्रकट होता है, जिसकी साधारण स्थिति में तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। किंतु शरीर और मन की शक्तियों से अपरिचित होने की स्थिति मे उनके विसर्जन से प्रकट होने वाली शांति के प्रति तुम कैसे आश्वस्त हो सकते हो? तुम पूछ सकते हो कि अपना क्या है? और उसकी खोज कैसे की जा सकती है? अपना क्या है, यह मैं इसी लेख में बतलाने वाला हूं। किंतु उसकी खोज की पद्धति बतलाना किंचित् कठिन है। अपनी खोज की परंपरा हजारों वर्ष पुरानी है। फिर भी आश्चर्य है कि आज तक उसकी कोई निश्चित पद्धति निर्धारित नहीं हुई है। भौतिक सिद्धांत की भांति सब पर समान रूप से घटित होने वाला उसका कोई निश्चित सिद्धांत नहीं है। वह व्यक्तिगत प्रश्न है। इस समस्या पर विचार करता हूं तब चेतन और अचेतन जगत् की भेद-रेखा बहुत स्पष्ट रूप में दृष्टि के सामने उभर आती है। अचेतन में अपनी इच्छा, अपनी प्रवृत्ति और उसका परिणाम नहीं है, इसलिए उसके लिए एक सामान्य नियम की संरचना की जा सकती है किंतु चेतन जगत् मे व्यक्ति-व्यक्ति की अपनी इच्छा, अपनी प्रवृत्ति और उसका परिणाम होता है, इसलिए उनके लिए किसी सामान्य नियम की संरचना नहीं की जा सकती। चेतन के विकास में बाह्य परिस्थितियां और आंतरिक क्षमता दोनों संयुक्त-रूप से घटक का काम करते हैं। मनुष्यों में क्षमताओं का तारतम्य इसीलिए है कि वे चेतन है और चेतन होने के कारण क्रिया करने में स्वतंत्र हैं। स्वतंत्र अस्तित्व किसी एकात्मक नियम की अपेक्षा नहीं रखता।

अपनी खोज के प्रसंग में स्वतंत्रता-जनित तारतम्य को समझना बहुत जरूरी है। कुछ लोग अपनी खोज में प्रवृत्त होते हैं और अल्पकाल में ही सफल हो जाते

हैं। कुछ लोग बहुत लम्बे समय के बाद सफल होते हैं। कुछ लोग लम्बी अवधि से घबराकर उसे बीच में ही छोड़ देते हैं। इस प्रकार अपनी खोज की अनेक कोटियां हो जाती हैं।

यद्यपि अपनी खोज की सामान्य पद्धति की स्थापना करना कठिन है, फिर भी सामान्य पद्धति का निर्देश किये बिना काम नहीं चल सकता। यह लम्बी चर्चा मैंने इसलिए की है कि अपनी खोज मे लगने वाले लोग सामान्य पद्धति और सामान्य परिणाम की संभावना न देख उससे विरत न हो जाएं। कुछ लोगों की यह जिज्ञासा है कि जिस प्रकार बी० ए०, एम० ए० का निश्चित पाठ्यक्रम है उसके अनुसार पढ़ने वाला विद्यार्थी अमुक अवधि मे उन परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाता है, इस प्रकार अध्यात्म-साधना का कोई निश्चित क्रम नहीं है, जिससे साधक में यह विश्वास जाग जाए कि वह अमुक अवधि मे अमुक कक्षा तक पहुंच जायेगा।

उक्त जिज्ञासानुसारी पाठ्यक्रम निश्चित करना मुझे असंभव नहीं लगता। अमुक अवधि मे अमुक कक्षा तक पहुंच जाना भी असम्भव नहीं है। उपयुक्त श्रम और निष्ठा के अभाव मे एक विद्यार्थी बौद्धिक पाठ्यक्रम की परीक्षाओं में भी अनुत्तीर्ण हो जाता है। वैसे ही इस साधनाक्रम मे होता है। उत्तीर्ण होने वालों की योग्यता समान नही होती। वैसे ही इसमें भी होता है। अत: अपनी खोज की सामान्य पद्धति और उसके परिणाम के विषय मे संदेह करने की अपेक्षा नही है। एक लम्बी अवधि मे यह माना जाता रहा है कि 'अपनी खोज' की आवश्यकता मुनिगण को है, गृहस्थ के लिए आवश्यक नही है। धर्म की ज्योति क्रियाकांड की राख से आच्छन्न हो गई, तब यह विचार पनपा था। वर्तमान युग की बौद्धिक और वैज्ञानिक धारणाओं ने इसकी जड को हिला दिया है। आज यह माना जाने लगा है कि हर व्यक्ति को योगी बनने की जरूरत है, जो शांति और संतुलनपूर्वक जीवन चलाना चाहता है और जो जीवन की प्रत्येक अपेक्षा को पूर्ण करता है पर उसके भार से दबना नही चाहता।

अपनी खोज मे प्रवृत्त होने वाला जीवन की अपेक्षाओं से विमुख नहीं होता। शरीर साधना का अनिवार्य या प्रथम साधन है। उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है? शरीर की उपेक्षा नही की जा सकती, तब उसकी सहायक साधन-सामग्री की उपेक्षा कैसे की जा सकती है। साधना-काल में साधनों की उपेक्षा नहीं होती, किंतु उनके मूल्यांकन का दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है।

"जिसका दृष्टिकोण सम्यक् होता है उसके लिए जो आस्रव (बंधन के हेतु) है, परिस्रव (मोक्ष के हेतु) हो जाते हैं। जिसका दृष्टिकोण मिथ्या होता है उसके लिए परिस्रव आस्रव हो जाते है।"

दृष्टिकोण के समीचीन होने पर शरीर और उसकी पोषक सामग्री साधना का अंग बन जाती है। उसकी असमीचीनता में वह बाधक बन जाती है।

साधना के प्रति दृष्टिकोण स्थिर नहीं होता। उस स्थिति में देह के प्रति आसक्ति होती है, भोजन के प्रति आसक्ति होती है। शरीर और भोजन के प्रति आसक्ति होना न स्वाभाविक है और न अनिवार्य है। उनकी यथार्थता को न समझने के कारण वह होती है। अपनी खोज का आरंभ है यथार्थता का बोध, सत्य की साक्षात् अनुभूति। जिस वस्तु का जो मूल्य है, उसे विघटित कर देना साधना का उद्देश्य नहीं है। उसका उद्देश्य है वास्तविक मूल्य की प्रतिष्ठापना और काल्पनिक या आरोपित मूल्य का विघटन। जो आदमी धन का यथार्थ मूल्य नहीं जानता, वह उसका सही उपयोग नहीं कर पाता किंतु उसमें आसक्त होकर उससे प्रताड़ित होता है, उसे अशांति का निमित्त बना लेता है। यही बात शरीर, भोजन आदि पदार्थों के लिए घटित होती है।

उपनिषदों में शरीर को रथ और उसमे विराजमान चेतन को रथिक कहा गया है। आगम-सूत्रों मे शरीर को नौका और उसमे विराजमान चेतन को नाविक कहा गया है। वह नाविक इसी नौका के द्वारा दु:ख के सागर को पार करता है।

अध्यात्म जीवन की सबसे बडी कला है। जो आदमी अध्यात्म की कला से अभिज्ञ नही है वह अन्य सब कलाओं का पारगामी होने पर भी जीवन की कला से अनभिज्ञ है। मैं फिर एक बार उस तथ्य को दोहराना चाहता हूं कि शांति और सुख की उपलब्धि के लिए अपनी खोज उतनी ही अनिवार्य है जितना अनिवार्य है स्वास्थ्य के लिए समीचीन श्वास।

अहं का विसर्जन

व्याकरणशास्त्र के अनुसार तीन पुरुष होते हैं :

१. प्रथम पुरुष—वह
२. मध्यम पुरुष—तू
३. उत्तम पुरुष—मैं

यह पुरुष-भेद 'स्व' और 'पर' की भावना इस शरीर से उत्पन्न हुई है। मेरा अस्तित्व इस शरीर से भिन्न नहीं है, इसलिए इस शरीर की सीमा तक मैं हूं, इससे परे मैं नहीं हूं। इससे परे जो है वह 'पर' है—मुझसे भिन्न है। मैं वह नहीं और वह मैं नहीं हूं। इस प्रकार 'मैं और वह' के बीच मनुष्य ने एक रेखा खींच रखी है। वही 'स्व' और 'पर' की सीमारेखा है।

मनुष्य की समग्र प्रवृत्ति और अभिव्यक्ति का केन्द्र शरीर है। इसके विषय में दो प्रकार के लोगों ने दो प्रकार से सोचा है। कुछ लोगों ने सोचा कि शरीर से भिन्न मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं है और कुछ लोगों ने सोचा कि जैसे एक व्यक्ति का शरीर दूसरे व्यक्ति से भिन्न है वैसे ही मनुष्य की प्रवृत्ति का केन्द्रभूत शरीर भी उससे भिन्न है। प्रथम विचार के अनुसार चैतन्य शरीर का एक ही धर्म है और दूसरी विचारधारा के अनुसार शरीर और चैतन्य दो है।

यहां मुझे इस विषय का समर्थन या निरसन नहीं करना है कि शरीर और चैतन्य अभिन्न है या वे भिन्न है। मैं केवल इतना ही बताना चाहता हूं कि अध्यात्म-साधना का सारा विकास 'शरीर और चैतन्य भिन्न हैं', इसी विचार-धारा के आधार पर हुआ है। साधना के क्षेत्र में यह स्वर बहुत प्रखर रहा कि 'मैं दो हूं' यह मानना अविद्या है। मैं देह नहीं हूं किंतु चिन्मय आत्मा हूं—यह अनुभव करना विद्या है—

देहोऽहमिति या बुद्धिः, अविद्येति प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति, बुद्धिर्विद्येति भण्यते ॥

जो मनुष्य शरीर और चैतन्य को एक मानता है वह बहिरात्मा है। जो मनुष्य शरीर और चैतन्य की भिन्नता का अनुभव करता है, वह अंतरात्मा है। जो मनुष्य सम्यक् दर्शन व सम्यग् चरित्र के द्वारा आत्मा के आवृत रूप को प्रकट करता है, वह परमात्मा है।

मनुष्य जो भी प्रयत्न करता है, वह दुःखमुक्ति और सुखप्राप्ति के लिए करता है। आनंद आत्मा का सहज धर्म है। वह हर मनुष्य के अंतस्तल में विद्यमान है। किंतु मन जब बाह्य विचारों से भरा रहता है तब अंतस्तल में छिपे हुए आनंद का अनुभव करने के लिए उसमें अवकाश नहीं होता। मन जब चंचल रहता है, तब वह अंतस्तल में छिपे हुए आनंद का स्पर्श नही कर पाता। उसका अनुभव करने के लिए यह आवश्यक है कि मन खाली हो। मन का खाली होना ही अस्तित्व का बोध है। मन का खाली होना ही अहं का विसर्जन है।

जब मन बाह्य विचारों से शून्य होता है तब उस शून्यता को चैतन्य की अनुभूति भर देती है। जब मन चैतन्य की अनुभूति से शून्य होता है तब उस शून्यता को बाह्य विचार भर देते है।

ममकार और अहंकार

ममकार और अहंकार के निदान की मीमांसा अनेक तत्त्वविदों ने की है। तत्त्वविद् जिस भूमिका का होता है, उसी भूमिका के संदर्भ में वह सोचता है। अध्यात्म के तत्त्वविदों ने दुःख का निदान देह और चैतन्य में एकता का आरोप माना है।

यह शरीर मोह-व्यूह का सबसे मुख्य आधार है। ममकार और अहंकार मोह के पुत्र है। इनकी उत्पत्ति शरीर के माध्यम से ही होती है। अनात्मीय तत्त्वों में आत्मीयता का अभिनिवेश होना ममकार है, जैसे—मेरा शरीर, मेरा घर, मेरा पुत्र आदि। शरीर पौद्‌गलिक है। इसलिए वह अनात्मीय है। अनात्मीय तत्त्वों में सबसे अधिक आत्मीयता की बुद्धि शरीर में ही होती है। शरीर आत्मीय नहीं है और उसमें हमारी आत्मीयता की बुद्धि होती है। वही हमारे मन में अनात्मीयता को आत्मीय मानने का संस्कार उत्पन्न करती है। फिर हम हर अनात्मीय वस्तु को आत्मीय मानने लग जाते हैं। ममकार के साथ-साथ अहंकार का संस्कार भी पुष्ट होता जाता है। अहंकार का अर्थ है आरोपित उपाधियों के संदर्भ में अपने आपको देखना—जैसे मैं बड़ा आदमी हूं, मैं अधिकारी हूं, धनी हूं, आदि-आदि। अहंकार की राख जब गहरी हो जाती है, तब वह

अस्तित्व की ज्योति को आच्छन्न कर देती है। इसलिए साधक अहं को विसर्जित करने के लिए उसके निदान को खोजता है।

इस जगत् में मूल तत्त्व दो है—चेतन और अचेतन। स्वरूप की दृष्टि से दोनों स्वतंत्र है किंतु इस जागतिक वातावरण में वे एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते है। उनके पारस्परिक प्रभाव की प्रक्रिया को देखकर चेतन और अचेतन को सर्वथा स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। चेतन का अस्तित्व देह के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। देह पौद्गलिक है। देह और चेतन में गहरा संबंध है। यह कब से है, इसका पता लगाना कठिन है। किंतु इतना स्पष्ट है कि चेतन के बिना देह का निर्माण और स्थितिकरण नहीं होता और देह के बिना चेतन अपने-आपको प्रकट नहीं कर पाता। तात्पर्य की भाषा में चेतन और देह का संयोग ही बंध या संसार है और उनका वियोग ही मुक्ति है।

हम किसी भी पदार्थ के स्वतंत्र अस्तित्व को तब स्वीकार करते हैं, जब उसमें सब पदार्थों से विलक्षण कोई गुण मिलता है। चेतन में चैतन्य गुण विलक्षण है। वह पुद्गल में नही है। इसीलिए चेतन का स्वतंत्र अस्तित्व है। आनंद चैतन्य का ही एक विशेष अनुभव है। शक्ति चेतन और अचेतन दोनों मे होती है। इस प्रकार चेतन का मौलिक स्वरूप चैतन्य है। आनंद और शक्ति—ये दोनों उसके सहवर्ती हैं। गुण और सहवर्ती गुणों की दृष्टि से हम चेतन की व्याख्या इन शब्दों में कर सकते है :

१. वह चिन्मय है।
२. वह आनन्दमय है।
३ वह शक्तिमय है।

पुद्गल स्थूल शरीर के माध्यम से जीव को सहयोग देता है। वहां सूक्ष्म शरीर के माध्यम से वह जीव के अस्तित्व को आवृत, विकृत और प्रतिहत करता है। जीव का अनंतरित संबंध कार्मण शरीर से है। यह सूक्ष्म शरीर है। यह जीव को चार रूपों में प्रभावित करता है।

जीव मे सूर्य की भांति अखण्ड चैतन्य है। किंतु कार्मण शरीर के परमाणु-स्कध उसे आवृत करते हैं। इस आवरण के कारण जीव का प्रत्यक्ष ज्ञान नष्ट हो जाता है और परोक्ष ज्ञान भी अनेक स्तरों मे बंट जाता है।

जीव का आनंद सहज (पदार्थ-निरपेक्ष) है किंतु कार्मण शरीर उसे प्रभावित करता है, फलस्वरूप उसका मौलिक रूप विकृत हो जाता है और वह पदार्थ-सापेक्ष सुखानुभूति के रूप में शेष रहता है।

कार्मण शरीर जीव की नैसर्गिक शक्ति को प्रतिहत करता है। फलस्वरूप जीव स्थूल-शरीर के माध्यम से प्राप्त होने वाली शक्ति पर निर्भर रह जाता है।

इस प्रकार कार्मण शरीर से प्रभावित जीव चैतन्य, आनंद और शक्ति के मौलिक और असीम गुण से वंचित रहकर केवल परमाणु-स्कंध के माध्यम से प्राप्त होने वाले ज्ञान, सुख-सामर्थ्य पर अपना काम चलाता है।

सूक्ष्म शरीर के सहारे स्थूल शरीर बनता है। उसमें इन्द्रिय और मन की क्षमता निष्पन्न होती है। इन्द्रिय और मन के सहारे जीव बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करता है—बाह्य विषयों को ग्रहण करता है। उनके प्रति राग और द्वेष उत्पन्न होता है और वे परमाणु-स्कंधों का आकर्षण करते हैं। उनसे कार्मण शरीर पुष्ट बनता है। इस प्रकार उक्त प्रक्रिया पुनरावृत्त होती रहती है। इस पुनरावृत्ति का मूल जीव और देह का संयोग है।

जीवन में जो घटित होता है, वह किसी एक ही कारण से नहीं होता। उसके पीछे कारण की सामग्री रहती है। उसमें एक कारण काल है। काल-मर्यादा का परिपाक होने पर जीव में सत्य की जिज्ञासा जागृत होती है। वह व्यवहार की भूमिका से ऊपर उठकर वास्तविकता की खोज करता है। वास्तविकता यह है कि चेतन और देह दो है। साधना का प्रारंभ इसी बिंदु से होता है। जीव और देह की एकता का बोध जैसे बंधन का मूल है वैसे ही उनकी भिन्नता का बोध मुक्ति का मूल है। जैसे-जैसे यह भेदज्ञान दृढ़ होता जाता है, वैसे-वैसे ही राग-द्वेष क्षीण होते जाते है। उनकी क्षीणता का अर्थ है—कार्मण शरीर की क्षीणता और कार्मण शरीर की क्षीणता का अर्थ है—जीव के स्वाभाविक स्वरूप का प्रादुर्भाव।

जीव और देह का भेद-ज्ञान होने पर भी वृत्तियों को प्रशान्त किए बिना भेद-ज्ञान दृढ़ नहीं होता। जीव की प्रवृत्ति के दो परिणाम होते है—कर्मबन्ध और संज्ञा-संरचना (वृत्ति या संस्कार-निर्माण)। प्रवृत्ति के माध्यम से कर्म-परमाणु जीव के साथ संबंध स्थापित कर लेते है, उसका नाम कर्मबन्ध है। प्रवृत्ति के साथ जो स्मृति का अनुबंध हो जाता है, वह संज्ञा या वृत्ति है। बन्ध और संवर—ये दोनों मन को चंचल बनाते है और चंचलता की स्थिति में चैतन्य की शक्तियां विकसित नहीं होतीं।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा की व्याख्या विधि और निषेध—दोनों प्रकारों से की गई है। वह शब्द नहीं है, रूप नहीं है, गंध नहीं है, रस नहीं है और स्पर्श नहीं है। फलत: वह अमूर्त है, अदृश्य है। वह चेतन सत्ता है। वह अपद है—शब्दातीत है। वह तर्कातीत है। वह बुद्धि से परे है।

आत्मा और देह का संबंध

आत्मा सूक्ष्म है और देह स्थूल है। प्राणी सूक्ष्म और स्थूल का यौगिक

(मिश्रित) रूप है। इसकी गति सूक्ष्म और स्थूलता की ओर होती है।

आत्मा — भावमन — द्रव्यमन — मस्तिष्क — { आंख / कान / नाक — बाह्य जगत् / जीभ / स्पर्श }

बद्ध-आत्मा को कर्म प्रभावित करते है। उनके द्वारा जीव के अध्यवसाय बाह्याभिमुख होते हैं। संचित संस्कार उस कार्य में सहयोगी बनते हैं। बुद्धिचक्र बाह्याभिमुख भावनाओं को अपनी रश्मियों द्वारा आकर्षित करता है। अपने आवरण विलय (क्षायोपशामिक भाव) की योग्यता के अनुसार वह उस विषय पर ऊहापोह करता है, हेय और उपादेय की दृष्टि से मीमांसा करता है और अपना निर्णय प्रस्तुत करता है। मन बुद्धि का ही एक केन्द्रीय विभाग है। अत: वह चंचल हो उठता है और आज्ञाकारी अनुचर की भांति बुद्धि के निर्णय को स्वीकार करता है। वह इन्द्रियों का स्वामी है इसलिए स्वीकृत निर्णय को ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों तक पहुंचाकर उन्हें सहज क्रिया करने का निर्देश देता है। ज्ञानेन्द्रियां अपने विषयो को तथा कर्मेन्द्रियां अपनी क्रियाओ को स्वाभाविक रूप से संपादित करती है। उससे पूर्वार्जित संस्कार समाप्त हो जाते है। उसमे वृत्ति की नयी गांठ नहीं घुलती।

मोह-मूढ़ आत्मा विषयाभिमुखता के कारण नये-नये संस्कार उत्पन्न करती रहती है। उसमे क्रिया और प्रतिक्रिया का चक्र चलता रहता है।

क्रियावाद : आस्रव

जीव अनन्त है। प्रत्येक जीव का अस्तित्व स्वतंत्र है। वह न किसी द्वारा निर्मित है और न संचालित। वह अनिर्मित है और अपने ही परिणामों से संचालित है। उसमे दो प्रकार के पर्याय होते है—स्वाभाविक और नैमित्तिक। स्वाभाविक पर्याय निमित्त-निरपेक्ष होते है। उससे जीव का अस्तित्व बना रहता है। नैमित्तिक पर्याय निमित्तों के आधार पर होते है। उससे जीव नानारूपों में बदलता रहता है। निमित्त दो प्रकार के होते है—आंतरिक और बाह्य। राग और द्वेष—ये दो आंतरिक निमित्त है। जीव के असंख्य प्रदेश (अविभागी अवयव) होते हैं। वे सब चैतन्य स्वरूप है। वे चैतन्यमय होने के कारण प्रभास्वर और निर्मल होते है। राग और द्वेष जीव के प्रत्येक प्रदेश के साथ मिश्रित है। स्वभाव से प्रभास्वर और निर्मल चैतन्य उसके योग से आवृत और मलिन रहता है। इस योग (चैतन्य और रागद्वेष) का आदि-बिंदु ज्ञात नही है, इसलिए यह संबंध अनादि माना जाता है। शरीरधारी जीव की परिणाम-धारा राग-द्वेष से युक्त होती है। राग-द्वेषयुक्त परिणाम नये-नये पुद्गल परमाणुओं को आकर्षित करता रहता है। जीव की परिणाम-धारा कर्म-परमाणुओं के आकर्षण का हेतु बनती है। इसलिए उसे आस्रव कहा जाता है। कर्म-परमाणुओं को आकर्षित करने की क्रिया को भी आस्रव कहा जाता है। पुद्गल-परमाणुओं का आकर्षण काययोग (शारीरिक प्रवृत्ति) से होता है। बाहरी पुद्गलों को आकर्षित करने वाले घटक के रूप में काययोग आस्रव बनता है। सभी कर्म-परमाणु काययोग के द्वारा ही आकर्षित होते हैं। जैसे तालाब में नाले से जल आता है वैसे ही काययोग के द्वारा कर्म के परमाणु भीतर आकर जीव-प्रदेशों के साथ संबंध स्थापित करते हैं। जैसे गीले कपड़े पर वायु द्वारा लाये हुए रजकण चिपकते है, वैसे ही राग-द्वेष से गीले बने हुए जीव पर काययोग द्वारा लाये हुए कर्म-परमाणु चिपकते है। जैसे तपा हुआ लोहपिंड

जलकणों को आत्मसात् कर लेता है वैसे ही कषाय से उत्तप्त जीव-परमाणुओं को आत्मसात् कर लेता है।

आस्रव के पांच प्रकार है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

मिथ्यात्व

ज्ञान आवृत होने पर मनुष्य जान नहीं पाता। नहीं जानना अज्ञान है। दृष्टि मूढ होने पर मनुष्य जानता हुआ भी सम्यक् नहीं जानता, विपरीत जानता है। यह मिथ्यात्व है। इस अवस्था में इंद्रिय-विषयों के प्रति तीव्रतम आसक्ति रहती है, क्रोध, मान, माया, और लोभ प्रबलतम होते है, मानसिक ग्रंथियां बनती रहती हैं। वे जीवनभर खुलती नहीं। व्यवहार में क्रूरता अधिक रहती है। मिथ्यात्वी मनुष्य दुःखद विषयों को सुखद मानता है और अशाश्वत विषयों को शाश्वत मानकर चलता है। उसमे असत्य का आग्रह होता है। वह पदार्थ को ही सर्वस्व मानता है। धन के प्रति उसमें तीव्रतम मूर्च्छा होती है। नैतिकता या प्रामाणिकता में उसे कोई विश्वास नहीं होता।

अविरति

मनुष्य मे एक आकांक्षा की वृत्ति होती है। उसके कारण वह पदार्थ में अनुरक्त होता है। उसे वह प्राप्त करना और भोगना चाहता है। उस वृत्ति के अस्तित्व मे वह पदार्थ से विरत नहीं होता। इसलिए उस वृत्ति का नाम अविरति है। इस अवस्था मे मनुष्य की दृष्टि पदार्थ के प्रति आकृष्ट होती रहती है। पदार्थ और धन के द्वारा होने वाले अनिष्ट परिणामों को जान लेने पर भी वह उन्हे छोड़ नहीं सकता। मूर्च्छा के कारण उसे भय सताता रहता है। जीवन की आकांक्षा और मृत्यु का भय भी मन को विचलित करता रहता है। सामाजिक जीवन मे पारस्परिक टकरावों, संघर्षों और छीनाझपटी का कारण यह अविरति की मनोदशा ही है।

प्रमाद

प्रमाद का अर्थ है—विस्मृति। इससे आत्मा या चैतन्य की विस्मृति होती है। इस अवस्था मे मनुष्य का मन इंद्रिय-विषयो के प्रति आकर्षित हो जाता है; शांत बने हुए क्रोध, मान, माया और लोभ फिर उभर आते है; जागरूकता समाप्त हो जाती है; करणीय और अकरणीय का बोध धुंधला हो जाता है।

प्रमाद का दूसरा अर्थ है—अनुत्साह। प्रमत्त अवस्था मे संयम और क्षमा आदि धर्मों के प्रति मन में अनुत्साह आ जाता है; सत्य के आचरण में शिथिलता आ जाती है। इससे आध्यात्मिक अकर्मण्यता और अलसता की स्थिति बन जाती है।

वासना, भोजन आदि की चर्चा में जो आकर्षण होता है वह आध्यात्मिक विकास की चर्चा में नहीं होता।

कषाय

राग और द्वेष—ये दो मूल दोष हैं। राग माया और लोभ की प्रवृत्ति को तथा द्वेष क्रोध और अभिमान की प्रवृत्ति को जन्म देता है। ये चारों—क्रोध, मान, माया और लोभ—चित्त को रंगीन बना देते हैं, इसलिए इन्हें कषाय कहा जाता है। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद—ये कषाय के उदय से ही निष्पन्न होते हैं। तीव्रतम कषाय[1] के उदयकाल में सम्यग्दृष्टि उपलब्ध नहीं होती। तीव्रतर कषाय के उदयकाल में आंशिक विरति भी नहीं होती। तीव्र कषाय के उदयकाल में पूर्ण विरति नहीं होती। मन्द कषाय के उदयकाल में वीतरागता उपलब्ध नहीं होती। चारों कषायों के तीव्रता और मन्दता के आधार पर सोलह प्रकार बनते हैं—

१.	तीव्रतम क्रोध—पत्थर की रेखा के समान।	[स्थिरतम]
२.	तीव्रतर क्रोध—मिट्टी की रेखा के समान।	[स्थिरतर]
३.	तीव्र क्रोध—धूली की रेखा के समान।	[स्थिर]
४.	मंद क्रोध—जल की रेखा के समान।	[अस्थिर-तात्कालिक]
५.	तीव्रतम मान—पत्थर के खंभे के समान।	[दृढ़तम]
६.	तीव्रतर मान—हाड़ के खंभे के समान।	[दृढ़तर]
७.	तीव्रमान—काष्ठ के खंभे के समान	[दृढ़]
८.	मंद मान—लता के खंभे के समान	[लचीला]
९.	तीव्रतम माया—बांस की जड़ के समान	[वक्रतम]
१०.	तीव्रतर माया—मेंढे के सींग के समान	[वक्रतर]
११.	तीव्र माया—चलते बैल की मूत्रधारा के समान	[वक्र]
१२.	मंद माया—छिलते बांस की छाल के समान	[स्वल्प वक्र]
१३.	तीव्रतम लोभ—कृमि रेशम के समान	[गाढ़तम रंग]
१४.	तीव्रतर लोभ—कीचड़ के समान	[गाढ़तर रंग]
१५.	तीव्र लोभ—खंजन के समान	[गाढ़ रंग]
१६.	मंद लोभ—हल्दी के समान	[तत्काल उड़ने वाला रंग]

इन कषायों को उत्तेजित करने वाले तत्त्वों को 'नो-कषाय' कहा जाता है।

1. कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। तीव्रतम कषाय को अनतानुबंधी, तीव्रतर कषाय को अप्रत्याख्यानी, तीव्र कषाय को प्रत्याख्यानी और मंद कषाय को संज्वलन कहा जाता है।

यहां 'नो' का अर्थ है—ईषद्, थोड़ा। 'नो कषाय' नौ हैं—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुगुंछा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद।

मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद—इन तीनों आस्रवों के समाप्त हो जाने पर भी कषाय आस्रव से कर्म परमाणुओं का आगमन होता रहता है। कषाय के समाप्त हो जाने पर केवल योग से पुण्य कर्म का बंध होता रहता है।

योग

मनुष्य के पास प्रवृत्ति के तीन साधन है—शरीर, वचन और मन। ये तीनों योग कहलाते हैं। योग का अर्थ है—प्रवृत्ति, चंचलता या सक्रियता।

दु:ख-सुख के हेतु

चार आस्रवों से चैतन्य मूच्छित होता है। इसलिए वे दु:ख के हेतु बनते है। योग अपने आप मे दु:ख और सुख का हेतु नहीं है। यह मिथ्यात्व आदि चार आस्रवों में प्रवृत्त होता है तब सुख का हेतु बन जाता है। इसके द्वारा कर्म-परमाणुओं का आस्रवण (आगमन) होता है, वह आस्रव है। कर्म-परमाणु जीव के प्रदेशों के साथ चिपके रहते है वह बंध है। कर्म-परमाणु बंधन के बाद अपनी स्थिति के अनुपात में सत्ताकाल में रहते है। फिर विपाक को प्राप्त कर, उदय मे आकर, निर्जीर्ण हो जाते है। कर्म के उदयकाल मे प्राणी को दु:ख या सुख का अनुभव होता है। अध्यात्म की भाषा में आस्रव दु:ख या सुख का हेतु है। कर्म के उदय से होने वाली अनुभूति दु:ख या सुख है। आस्रव का विरोध होने पर दु.ख और सुख—दोनों के द्वार बद हो जाते है। उस स्थिति मे आत्मिक सुख का अनुभव होता है। जब तक आस्रव की क्रिया और चंचलता रहती है तब तक मनुष्य दु:ख और पौद्गलिक सुख की अनुभूति के चक्र मे जीता है। उसे सहज सुख का अनुभव नहीं होता। प्रत्येक जीव में अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतशक्ति होती है। किंतु आस्रव के कारण यह अनंत चतुष्टयी प्रगट नहीं हो पाती। इसके अस्तित्वकाल में ज्ञान-दर्शन आवृत, सुख विकृत और शक्ति सुप्त रहती है। जीव मे जो अशुद्धि है वह स्वाभाविक नहीं है। वह सारी की सारी आस्रव-जनित है। इसके आधार पर ही जीव के दो विभाग बनते है—बद्ध और मुक्त। आस्रवयुक्त जीव बद्ध और आस्रव-रहित जीव मुक्त होता है। जब तक आस्रव-जनित वृत्तियां और कर्म रहते है तब तक आत्मा के मौलिक स्वरूप का साक्षात्कार नही होता। चित्त की निर्मलता, एकाग्रता, तपस्या, प्रतिपक्ष-भावना या ध्यान-साधना के द्वारा आस्रव की शक्ति को क्षीण करने पर ही आत्मा के स्वरूप की अनुभूति हो सकती है। संक्षेप में जैन दर्शन का सार यह है—आस्रव दु.ख का हेतु है और संवर सहज सुख का।

प्रतिक्रियावाद : कर्म

भारतीय दार्शनिकों ने कुछ महत्त्वपूर्ण खोजें की है। उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण खोज है—आत्मा। आत्मा की खोज ने सचमुच दर्शन के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी क्रांति की। चैतन्य की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव जिस दिन हुआ उस दिन एक बहुत बडी उपलब्धि हुई। उस दिन उस तत्त्व का अनुभव किया गया जो अज्ञात था, अमूर्त था, जिसे चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता था। आत्म-तत्त्व की स्थापना हुई, चैतन्य की स्वतंत्र सत्ता स्थापित हुई।

दूसरी महत्त्वपूर्ण खोज है—कर्म। कर्म की खोज ने बहुत बड़े सत्य का उद्घाटन किया। आत्मा और कर्म इन दो उपलब्धियों ने अध्यात्म के क्षेत्र को बहुत विस्तार दिया।

अध्यात्म के मूलभूत आधार दो है—आत्मा और कर्म। यदि हम आत्मा और कर्म को हटा लें तो अध्यात्म आधारशून्य हो जाता है। उसका कोई आधार नही रह पाता। अध्यात्म की समूची योजना, समूची परिकल्पना और व्यवस्था इस आधार पर है कि आत्मा को कर्म से मुक्त करना है। यदि आत्मा नही है तो किसे मुक्त किया जाए? यदि कर्म नहीं है तो किससे मुक्त किया जाए? कोई व्यवस्था नहीं बनती। 'आत्मा को कर्म से मुक्त करना है'—इस सीमा में समूचा अध्यात्म समा जाता है।

आत्मा और मुक्तात्मा—दोनों के बीच कर्म का एक सूत्र है जो समूचा विस्तार करता है। दो प्रकार की आत्माए है—बद्ध और मुक्त। जो कर्मयुक्त है वह बद्ध आत्मा है और जो कर्ममुक्त है वह मुक्तात्मा है। बद्ध और मुक्त आत्मा के बीच की जो सारी परिक्रमा है वह है अध्यात्म। अध्यात्म को समझने के लिए आत्मा को समझना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी है कर्म को समझना। जितना कर्म को समझना जरूरी है, उतना ही जरूरी है आत्मा को समझना। दोनों

को समझे बिना अध्यात्म को नहीं समझा जा सकता। इसलिए आत्मा को समझना जितना प्राथमिक और आवश्यक है उतना ही कर्म को समझना भी प्राथमिक और आवश्यक है। एक के बिना दूसरे को समझा नहीं जा सकता। इसलिए हमें कर्म के विषय में मीमांसा करनी है।

आत्मा एक द्रव्य है। जो द्रव्य होता है वह क्रियाकारी होता है। द्रव्य का लक्षण है—अर्थ क्रियाकारित्वम्। जो अर्थ-क्रिया करता है अर्थात् कोई न कोई क्रिया करता है उसका ही अस्तित्व होता है। जिसमे कोई क्रिया नही होती उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। दो शब्द है—अस्तित्व और अनस्तित्व। जिसकी सत्ता है वह अस्तित्व है, जिसकी सत्ता नही है वह अनस्तित्व। अस्तित्व और अनस्तित्व में यही भेदरेखा है कि जिसमे क्रिया होती है वह अस्तित्व और जिसमें क्रिया नहीं होती वह अनस्तित्व। तर्कशास्त्र मे अनस्तित्व के अनेक उदाहरण दिये जाते है—आकाशकुसुम, वन्ध्यापुत्र, शशशृंग, तुरंगशृंग आदि-आदि। शशशृंग—खरगोश के सींग का कोई अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि उसकी कोई क्रिया नहीं मिलती। वन्ध्यापुत्र का अस्तित्व इसीलिए नहीं है कि उसकी कोई क्रिया उपलब्ध नहीं होती। आकाशकुसुम की कोई क्रिया प्राप्त नही है, इसलिए वह अस्तित्वशून्य है। जिसकी क्रिया नही है उसका अस्तित्व नहीं है। जिसकी क्रिया है उसका अस्तित्व भी है।

प्रत्येक द्रव्य क्रिया करता है। आत्मा एक द्रव्य है। उसकी अपनी क्रिया है। उसका अपना स्वरूप है। उसका अपना स्वभाव है आत्मा का स्वभाव, आत्मा का स्वरूप, आत्मा की सहज क्रिया है जानना और देखना। चेतना का केवल इतना ही काम है—जानना और देखना। इसके अतिरिक्त उसका कोई काम नहीं है। इसके अतिरिक्त आत्मा का कोई स्वरूप या स्वभाव नहीं है। उसका समूचा स्वभाव इसी में गर्भित है कि जानो और देखो।

दो प्रकार की क्रियाएं है—होना और करना। 'अहमस्मि'—मैं हूं—यह होना भी एक क्रिया है। 'तुम हो'—यह होना भी एक क्रिया है। 'है'—यह भी एक क्रिया है। 'अहं करोमि'—मै करता हूं—यह करना भी एक क्रिया है। होना और करना—इनमें इतना-सा अंतर है कि जहां 'हू' वहां केवल अस्तित्व का सूचक होता है, कोरी स्वाभाविक क्रिया है। कोई बाहरी संयोग की क्रिया नहीं है। और जहां 'अहं करोमि'—मैं करता हूं—वहां दो बातें आ जाती है। 'अहं कार्यं करोमि'—मैं काम करता हूं। यहां एक कर्त्ता—Subject है और एक कर्म—Object है। कर्त्ता और कर्म—ये दो हैं। 'मैं काम करता हूं'—यहां दो बन गये। जहां केवल होना है, होने में दो नही है। 'हूं' वहां कोई द्वैत नहीं है। किंतु जहां 'मैं काम करता हू' वहां मैं अलग हो गया और काम अलग हो गया। कर्त्ता अलग हो गया, कर्म अलग हो गया। यह स्वाभाविक क्रिया नहीं रही, वैभाविक क्रिया हो

गई, अस्वाभाविक क्रिया हो गई। आत्मा जानता है, देखता है—यह स्वाभाविक क्रिया है, क्योंकि यह आत्मा का अपना स्वभाव है, अपनी क्रिया है। यह किसी के संयोग से होने वाली क्रिया नहीं है। यह आरोपित क्रिया नहीं है, किसी के माध्यम से होने वाली क्रिया नहीं है।

मैं जानता हूं, देखता हूं, यह मेरा अपना स्वभाव है। किंतु मैं बोलता हूं, यह क्रिया अवश्य है, पर स्वाभाविक नहीं। यह स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है, सांयोगिक प्रवृत्ति है। न आत्मा बोलती है और न यह शरीर बोलता है। आत्मा और शरीर का जब योग होता है, तब 'प्राणशक्ति' पैदा होती है। हमारे शरीर में ऊर्जा है, तैजस या विद्युत् है। उस ऊर्जा शक्ति का संचालन होता है और मैं बोल लेता हूं। यह बोलने की क्रिया, सोचने की क्रिया, खाने की क्रिया, श्वास लेने की क्रिया—ये सारी क्रियाएं अस्वाभाविक हैं। मन का कर्म, वचन का कर्म और शरीर का कर्म —ये सारे अस्वाभाविक है, वैभाविक क्रियाए है।

जिन लोगों ने कर्म की खोज की, उन्होंने एक नियम को खोजा। जैसे वैज्ञानिक प्रकृति के नियम की खोज करता है, वैसे ही एक द्रष्टा ने, बुद्धि के स्तर पर नहीं, किंतु अनुभव के स्तर पर एक नियम खोज निकाला। वह नियम यह है—जहां वैभाविक क्रिया होगी वहां आत्मा का बंधन होगा। यह कार्य-कारण का नियम है। कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं होता। हमारा बंधन भी कारण के बिना नहीं हो सकता। यह एक नियम की खोज है, नियन्ता की खोज नहीं है। नियंता नियामक होता है, नियमन करने वाला होता है। नियम स्वाभाविक होता है, बनाया नही जाता। यह शाश्वत व्यवस्था है, बनायी हुई व्यवस्था नहीं है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—जो नियम है वह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है। इसे किसी ने बनाया नही है। वह नियम यह है—जहां आत्मा जानने-देखने की क्रिया से हटकर और कोई भी क्रिया करता है, वहां बंधन होता है। यह है बंधन का नियम। आत्मा बंधता है।

कर्म के दो अर्थ है—प्रवृत्ति और बंधन। बंधन और प्रवृत्ति दोनों एक हो जाते हैं। हमारी कोई भी वैभाविक प्रवृत्ति ऐसी नही है जहां कि बंधन न हो। जहां बंधन है वहां प्रवृत्ति है और जहां प्रवृत्ति है वहां बधन है। एक को देखकर दूसरे को जाना जा सकता है। धूएं को देखकर आग को जाना जा सकता है। यह एक निश्चित व्याप्ति है कि जहां धुआं है वहां अग्नि है। अग्नि के बिना धुआं हो नहीं सकता। यह तर्कशास्त्र की निश्चित व्याप्ति है—'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वन्हिः।' जहां धुआं है वहां अग्नि है। व्याप्ति एक ही है—जहां धुआं है वहां अग्नि है, यह तो नियम है किंतु जहां अग्नि है वहां धुआं होगा—यह नियम नहीं बनता। धुआं हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। किंतु यह दोहरी व्याप्ति है कि जहां प्रवृत्ति है वहां बंधन है और जहां बंधन है वहां प्रवृत्ति है। आप किसी

एक बात को पकड़ लें, दूसरी अपने आप आ जाएगी। हमारी कोई भी प्रवृत्ति, चाहे वह शरीर की हो, मन की हो या वाणी की हो, उससे बंधन होता है, कर्म बंधता है। जहां प्रवृत्ति होगी वहां बंधन होगा। जो भी व्यक्ति प्रवृत्ति करेगा, वह बंधेगा। ऐसा नहीं होता कि प्रवृत्ति तो है और बंधन नहीं है। यह बहुत बड़ी समस्या है कि जहां प्रवृत्ति है वहा बंधन निश्चित है। प्रवृत्ति होती रहेगी, बंधन होता रहेगा। फिर उस बंधन से मुक्ति कैसे होगी? उससे छुटकारा कैसे मिलेगा?

प्रवृत्ति के साथ कुछ आता है। क्रिया के साथ कुछ बाहर से आता है। जो आता है, उसे तो चले जाना चाहिए। जो आगन्तुक है, बाहर से आया है, उसे तो जाना ही होगा। किंतु उसे रोकने वाला भी है। हमने एक प्रवृत्ति की, बाहर से कुछ आया। पुद्‌गल आये और हमारे साथ जुड़ गये। प्रवृत्ति का कार्य समाप्त हो गया। किंतु भीतर मे एक चिकनाहट ऐसी है कि वह आने वाली धूल को, आने वाले पुद्‌गलों को पकड़ लेती है, बांध लेती है। दीवार पर आप धूल फेंके। धूल भी सूखी है और यदि दीवार चिकनी नहीं है तो धूल उस दीवार पर चिपकेगी नही। धूल जैसे ही डाली, दीवार का स्पर्श हुआ और वह नीचे गिर जाएगी, टिकेगी नहीं। किंतु यदि धूल गीली है तो थोड़ी टिक जाएगी। यदि दीवार चिकनी है तो वह धूल को पकड़ लेगी। धूल उस पर चिपक जाएगी।

हमारी चेतना की एक परिणति के साथ चिकनाहट जुड़ी हुई है। वह चिकनाहट है—कषाय, राग और द्वेष। राग और द्वेष की चिकनाहट जुडी हुई है। वह बाहर से जो कुछ आता है उसे पकड़ लेती है। उस चिकनाहट पर वह चिपक जाती है। दो बातें हो गई। प्रवृत्ति का काम है खींचना, बाहर से कुछ लाना और कषाय का काम है उसे चिपकाकर रखना। बाहर से जो आता है वह है कर्म। कषाय उसे चिपकाकर रख लेता है। उसे जाने नही देता। जो चिपकता है वह है कर्म और जो चिपकाता है वह है कषाय। किंतु कर्म वही नहीं है जो चिपकता है। एक कर्म और भी है। जो बाहर से आता है, बाहर से लाने के लिए जो प्रवृत्त होता है, वह भी कर्म है। उसकी संज्ञा है आस्रव। कर्मशास्त्र की परिभाषा मे आस्रव को भावकर्म कहा जाता है और उसके द्वारा जो पुद्‌गल खिंचा हुआ आता है, वह है द्रव्य कर्म। वास्तव मे जो पुद्‌गल है वे कर्म नहीं है। वास्तविक कर्म है—आस्रव। यदि आस्रव न हो, आग प्रज्ज्वलित न हो तो केवल ईंधन कुछ भी नही कर सकता। ईंधन है, आग जली हुई नहीं है तो ईंधन कुछ भी नहीं करेगा। ईंधन आग को तब भभकाता है जब आग प्रज्ज्वलित है। जलती हुई आग में ईंधन डालते चले जाएं, आग भभकती रहेगी। बुझी हुई आग के लिए ईधन का कोई अर्थ नही होता। यदि कषाय न हो, राग-द्वेष न हो तो कर्म का कोई अर्थ नहीं होता। पुद्‌गल भीतर आएं और चले जाएं, कोई बाधा नही आएगी। किंतु हमारे भीतर जो राग और द्वेष की आग जल रही है, कषाय की आग भभक रही है, उस आग में जब ये पुद्‌गल ईंधन रूप

में गिरते हैं, वे आग को और अधिक प्रज्ज्वलित कर देते हैं। आग को प्रज्ज्वलित करने वाले पुद्गल भी कर्म हैं और जो आग जल रही है, वह भी कर्म है।

कर्म एक नियम है। यह क्रिया के साथ घटित होने वाला सिद्धांत है। हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे या तो राग की प्रेरणा होती है या द्वेष की प्रेरणा होती है। जब-जब राग और द्वेष की प्रेरणा होती है, तब पुद्गल आते है। उन पुद्गलों को कषाय बांध लेता है। वे बंध जाते हैं। कर्मशास्त्रीय भाषा में प्रवृत्ति या योग कर्मों का आकर्षण करता है, कर्म पुद्गलों को खींचता है। कषाय उनका स्थितिबंध करता है। कर्म का आकर्षण होता है योग या प्रवृत्ति से और उनकी स्थिति का निर्धारण होता है कषाय से। जिनके कषाय नहीं होता, जिनके राग-द्वेष क्षीण हो चुके है, उनके प्रवृत्ति तो होती है, उससे कर्म पुद्गल भी आते हैं, किंतु वे आते हैं और चले जाते है, रुकते नहीं, बंधते नहीं। जैसे सूखी भींत पर सूखी रेत डाली, भींत का स्पर्श कर रेत नीचे गिर जाती है, वैसे ही कर्म के पुद्गल आते हैं और गिर जाते हैं, चले जाते हैं। फिर आते है, फिर चले जाते है। उनके टिकने का कोई कारण शेष नहीं है। यह क्रम तब तक चलता है जब तक कि पूर्ण बंधन-मुक्ति नही हो जाती।

कर्म क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे हमने यह जाना कि यह एक क्रिया का सिद्धांत है, कार्य-कारण का सिद्धात है, कार्य-कारण की खोज है कि जो कुछ भी घटित होता है उसके पीछे एक कारण होता है, एक कार्य होता है। जो कारण है वह आस्रव है और जो कार्य है वह कर्म है।

हम कुछ भी करते हैं उसकी पुनरावृत्ति होती है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। हमने एक प्रवृत्ति की। प्रवृत्ति समाप्त हो गई, किंतु उसकी प्रतिक्रिया समाप्त नही हुई। ध्वनि समाप्त हो गई, किंतु प्रतिध्वनि समाप्त नही हुई। ध्वनि की प्रतिध्वनि रह जाती है। हम गहरे कुए मे झांककर बोलते है, प्रतिध्वनि होती है। मकान के भीतर जाकर बोलते है, प्रतिध्वनि होती है। प्रतिध्वनि लम्बी होती है, ध्वनि छोटी होती है। क्रिया छोटी होती है, प्रतिक्रिया लम्बे समय तक चलती रहती है। छोटी क्रिया, बड़ी प्रतिक्रिया। क्रिया की प्रतिक्रिया, ध्वनि की प्रतिध्वनि, प्रवृत्ति की प्रति-प्रवृत्ति होती है, पुनरावृत्ति होती है। बार-बार दोहराई जाती है।

एक आदमी कोई चीज खाता है। उसने खा ली। बात समाप्त हो गई। किंतु यथार्थ मे बात समाप्त नही हुई। खाना बंद हो गया किंतु एक बार जो खाया वह मस्तिष्क के स्मृति-कोष्ठों में अंकित हो गया। जो अंकित हो गया वह समाप्त नहीं हुआ। वह अपना संस्कार छोड़ गया। एक वृत्ति बन गई। एक प्रतिक्रिया शेष रह गई। फिर जैसे ही निमित्त मिलता है, समय आता है, स्मृति उभर आती है, वृत्ति उभर आती है। फिर उस वस्तु की याद आते ही, उसके सामने आते ही जीभ से

पानी टपकने लगता है। लार टपक पड़ती है। क्रिया तो समाप्त हो गई, प्रतिक्रिया समाप्त नहीं हुई। वह चलती रहती है। उसकी शृंखला बहुत लम्बी है। इतनी लम्बी शृंखला है कि एक बार के कारण वह हजार बार भी दोहरा ली जाती है। इसलिए महावीर ने कहा—एक बार भी भूल मत करो। यह अप्रमाद का सिद्धांत है। प्रमाद मत करो, भूल मत करो। क्योंकि एक बार का प्रमाद या भूल हजार बार भी दोहराई जा सकती है, इसलिए एक बार भी भूल मत करो, प्रमाद मत करो। अन्यथा बार-बार उसकी आवृत्तियां होती रहेंगी।

कोई आदमी प्रवृत्ति नहीं करता तो उसका संस्कार भी नहीं बनता। प्रतिक्रिया नहीं होती। फिर करने के लिए प्रेरणा नहीं जागती। किंतु जब एक बार कर लिया जाता है तब दूसरी बार भी करने की भावना जागती है। फिर स्मृति उभरती है और फिर करने की बात आती है। यह दोहराने की बात, पुनरावृत्ति का सिद्धांत ही कर्म का सिद्धांत है। कर्म का सिद्धांत मनोवैज्ञानिक सिद्धांत है। एक बार जो प्रवृत्ति तुमने कर ली, अर्थात् कर्म का बंधन अपने ऊपर डाल दिया। यह ऐसा बंधन है कि फिर उस प्रवृत्ति से मुक्त होना तुम्हारे वश की बात नहीं रही, सहज बात नहीं रही। बहुत ही जटिल बात हो गई। न करने तक ठीक था कि यह नहीं किया। बात समाप्त हो गई कि यह नहीं किया। कुछ नहीं हुआ। किंतु एक बार भी यदि किया तो फिर न करना सरल नहीं रहा। फिर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। और सताने वाली बात पैदा हो गई। यह प्रतिक्रिया का सिद्धांत ही कर्म का सिद्धांत है। एक बार जो रास्ता पड़ गया, डांडी बन गई, फिर उसे मिटा पाना सरल नहीं होता। आदमी जाने-अनजाने उस मार्ग से चलने लग जाता है।

कर्म का मतलब है—एक संस्कार का निर्माण, एक चित्तवृत्ति का निर्माण, एक ऐसे रास्ते का निर्माण जिस रास्ते से पानी अपने आप चला जाए। यदि एक बार भी पानी के जाने का रास्ता बना डाला तो फिर जैसे ही पानी आया, वह उस रास्ते से बह जाएगा। हमने एक ऐसी ढालू जमीन बना ली कि पानी अपने आप सरक जाएगा, बह जाएगा। हमने अपने मस्तिष्क में एक ऐसा अंकन पैदा कर लिया कि वह अंकन पुनः उस प्रवृत्ति को करने के लिए हमे बाधित करता है। वह हमें तब तक उस प्रवृत्ति को दोहराने के लिए बाधित करता रहेगा जब तक कि वह मूलतः नष्ट न हो जाए, नष्ट न कर दिया जाए। यह संस्कार का निर्माण कर्म है, यह चित्तवृत्ति का निर्माण कर्म है, यह प्रतिक्रिया पैदा करने वाला सिद्धांत कर्म है।

कर्म दो स्थानों पर घटित होता है। एक है चेतना की वह अवस्था अर्थात् वह चित्तवृत्ति जिसका हमने किन्हीं आचरणों के द्वारा, प्रवृत्तियों के द्वारा निर्माण किया है। वह चित्तवृत्ति ही कर्म है। एक है वह पुद्गल समूह जो हमारी चित्तवृत्ति को

उभारता है, उसे सहारा देता है ; जलती आग में ईंधन का काम करने वाला पुद्गल समूह भी कर्म है, जैसे कि कुछ दार्शनिकों ने कर्म को केवल चित्त-संस्कार के रूप में स्वीकार किया है। कर्म को केवल संस्कार माना है। जैसे दर्शन ने उसे केवल संस्कार नहीं माना, कर्म-पुद्गल माना है। कर्म भी पदार्थ है, पौद्गलिक है, द्रव्य है। यह द्रव्य हमारी चेतना की जलती हुई आग में ईंधन का काम करता है और अपना सहारा देता है। कर्म के दो अर्थ हो गये—एक है चित्त की वृत्ति, चेतना का परिणमन और दूसरा है आस्रव। आस्रव अर्थात् निरंतर बहने वाली धारा। एक भी क्षण ऐसा नहीं आता कि हमारी राग-द्वेष की आग बुझ जाए। एक आदमी शांत बैठा है। ऐसा नहीं लगता कि उसमें कोई राग या द्वेष है। पूर्णरूप से शांत है। आप उसके भीतर झांककर देखें। अपने आपको भी शांत महसूस करने वाले आप अपनी चेतना को भीतर ले जाएं और गहराई में देखें। आपको लगेगा कि जो बाहर से शांत प्रतीत होता है उसके भीतर भी राग-द्वेष की आग भभक रही है। वह आग निरंतर जलने वाली आग है। किसी में मिथ्या दृष्टिकोण की आग जल रही है। वह व्यक्ति असत्य के प्रति अभिनिवेश रखता है। वह हर बात को आग्रह से स्वीकार करता है। वह एकांगी दृष्टिकोण से देखता है और प्रत्येक सत्य की काट-छांट के लिए प्रस्तुत रहता है। राग-द्वेष की तीव्र आग उसमें जल रही है। कुछ व्यक्तियों में मिथ्या दृष्टिकोण की आग इतनी तीव्र नहीं होती, किंतु आकांक्षा की आग तीव्र होती है। चाह और चाह। कहीं उसका अन्त नहीं आता। इतनी आकांक्षा, इतना असंयम, इतनी आशंसा, हर बात की चाह से संकुल। यह है अव्रत आस्रव। अव्रत की आग निरंतर जलने वाली आग है।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनमें न मिथ्या अभिनिवेश होता है और न आकांक्षा होती है। दोनों की आग बुझी हुई होती है। किंतु उनमें भी प्रमाद की आग जलती रहती है। प्रमाद का अर्थ है—अपनी विस्मृति, अपने स्वरूप की विस्मृति, अपने आप को भूल जाना, अपने अस्तित्व को भूल जाना। यह भी एक आग है जो जलती रहती है। प्रमाद आस्रव व्यक्ति में निरंतर रहता है। व्यक्ति में कषाय की आग जलती ही रहती है। इसका ताप कभी नहीं मिटता। इसका ताप ही सब आगों के जलने का प्रेरक तत्त्व है। यह चार प्रकार की आग—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय—हमारे भीतर निरंतर प्रज्वलित रहती है। ये चार आस्रव की अग्नियां अपने आप अपने ईंधनों को खींचती हैं और जलती रहती हैं। पुराने ईंधन चुक जाते हैं, नये ईंधन आते रहते हैं। यह आग कभी बुझ नहीं पाती।

एक चीज और है जिसे हम आग तो नहीं कहेंगे किंतु आग के साथ होने वाली वायु अवश्य कहेंगे। वायु के बिना आग नहीं जलती। यह एक अकाट्य नियम है—यत्र अग्निस्तत्र वायुः—जहां आग है वहां वायु है। वायु के बिना आग नहीं जलती। जैसे जीने के लिए प्राणवायु की आवश्यकता होती है वैसे ही जलने के लिए

भी प्राणवायु (ऑक्सीजन) की आवश्यकता होती है। चार अग्नियां—मिथ्यात्व की अग्नि, अव्रत की अग्नि, प्रमाद की अग्नि और कषाय की अग्नि। कर्म-पुद्गल इन अग्नियों के लिए ईंधन हैं किंतु पवन है—योग, प्रवृत्ति। योग वायु का काम करता है। योग का अर्थ है—प्रवृत्ति, चंचलता, विक्षेप। जितनी तीव्र हमारी चंचलता होगी, प्रवृत्ति होगी, विक्षेप होगा, उतनी ही तीव्र वायु चलेगी और उतनी ही तीव्रता से पुद्गल आयेंगे और आग को जलने में सहायता करते रहेंगे। वायु का काम करता है—योग आस्रव। योग का अर्थ है—प्रवृत्ति। समूची प्रवृत्ति का मतलब है वायु। वायु स्वय नहीं जलाती। जलाना इसका काम नहीं है। जलाने का काम है उन चार आस्रवों का—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषाय। किंतु जलाने का सबसे बडा प्रेरक तत्त्व है योग आस्रव, प्रवृत्ति, मन की प्रवृत्ति, वचन की प्रवृत्ति और शरीर की प्रवृत्ति। योग तीन है—मनयोग, वचनयोग और काययोग। योग जलती हुई आग को और अधिक प्रज्वलित कर देता है। यह आग मे पूला डालने जैसा है।

इस प्रकार कर्म के दो रूप हमारे सामने है—एक है चित्तवृत्ति और दूसरा है कर्म का पुद्गल समूह। इन दोनों को कर्म कहा गया है। एक की संज्ञा है—'भावकर्म' और दूसरे की संज्ञा है—'द्रव्यकर्म'।

कर्म-ग्रहण और कर्म-परिणमन का चक्र निरंतर चलता रहता है। कर्म से कर्म। इस संदर्भ मे कुछ प्रश्न उपस्थित होते है। जीव है चेतन और अमूर्त। कर्म है अचेतन और मूर्त। मूर्त का अमूर्त के साथ संबध कैसे हो सकता है? क्या कोई संबंध है इनमे? यदि कोई भी संबध नही है, तब तो कोई चिंता की बात नहीं है। कर्म अपने मे और जीव अपने मे दोनो अलग-अलग है तो कोई बात नही। चिंता तब होती है जब कोई संबध स्थापित होता है, कोई जुडता है। यदि संबंध है तो फिर प्रश्न होता है कि यह संबंध कैसे हो सकता है? चेतन का अचेतन के साथ संबंध कैसे होगा? मूर्त का अमूर्त के साथ और अमूर्त का मूर्त के साथ संबंध कैसे होगा? यह एक बहुत बडी पहेली सामने आती है। हम इसे अस्वीकार नहीं करेंगे कि जीव और कर्म मे कोई संबध नही है। यदि संबध को स्वीकार न करें तब तो कर्म को स्वीकार करने का कोई अर्थ ही नहीं होता। हम यह स्वीकार करेंगे कि जीव और कर्म मे संबध है। इस स्वीकृति के पश्चात् हमें दूसरे प्रश्न पर विचार करना होगा कि संबंध है तो वह कैसे स्थापित हुआ? अमूर्त और मूर्त में संबंध स्थापित होता है, चेतन और अचेतन मे संबंध स्थापित होता है और हम इसका अनुभव भी करते है। संबंध स्थापित हुआ है एक माध्यम के द्वारा और वह माध्यम है—स्वय मूर्त होने का। चेतन अमूर्त है—यह एक सिद्धांत है। किंतु अमूर्त हो गया—यह सही नही है। अमूर्त है—यह तो भविष्य की एक कल्पना है। जिस दिन जीव अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित होगा उस दिन चेतन अमूर्त हो

जायेगा। किंतु वह अमूर्त है, यह हमारी वार्तमानिक मान्यता है। जो शरीरधारी जीव है, वह अमूर्त नहीं है। मर जाने के बाद भी, स्थूल शरीर छोड़ देने के बाद भी यह जीव सूक्ष्म शरीर के बंधन से मुक्त नहीं होता, उस जीव को हम अमूर्त कैसे मानें ? ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। जिस दिन यह सूक्ष्म शरीर छूट जायेगा, हमारा जीव अमूर्त बन जायेगा। जिस दिन वह अमूर्त बन जायेगा, फिर मूर्त के साथ उसका संबंध कभी स्थापित नहीं होगा। वर्तमान में यह जीव अमूर्त नहीं है। वह मूर्त है क्योंकि सूक्ष्म शरीर उसको बांधे हुए है। वह सूक्ष्म शरीर ही कर्मों को आकर्षित करता है। सूक्ष्म शरीर दो हैं—तैजस और कार्मण। कार्मण शरीर अर्थात् कर्म का शरीर। यह कर्म शरीर ही कर्म को खींचता है। कर्म-शरीर ही कर्म को पकड़ता है। कर्म शरीर ही कर्म को बांधता है। जीव कर्म को न खींचता है, न पकड़ता है और न बांधता है।

सूक्ष्म शरीर को समझ लेने के पश्चात् कर्म की पूरी कल्पना स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार आत्मा और कर्म—इन दो खोजों ने समूचे अध्यात्म-जगत् को अपने प्रकाश से प्रकाशित किया। कर्म कार्य-कारण के नियम की खोज है। यह उस नियम की खोज है कि किसी संयोग से होने वाली प्रवृत्ति हमेशा बांधती है। स्वाभाविक प्रवृत्ति कभी नहीं बांधती। जहां आत्मा की स्वाभाविक क्रिया है—जानना और देखना, वहां कोई बंधन नहीं होता। किंतु जहां पुद्गल के योग से होने वाली प्रवृत्ति है, वहां बंधन है।

कर्म जीव से संबंध रखता है और उस संबंध का सूत्र है—कार्मण शरीर या जीव का स्वयं मूर्तिमान् जैसा हो जाना। वर्तमान स्वरूप में जीव मूर्त होता है। इसलिए जीव और कर्म के संबंध-स्थापन में कोई समस्या पैदा नहीं होती।

हमारा चैतन्य कर्म-पुद्‌गलों के द्वारा आवृत है। तपोयोग के द्वारा उसे अनावृत किया जा सकता है। हमारा आनंद मोह के द्वारा विकृत बना हुआ है। उसे तपोयोग के द्वारा विशुद्ध किया जा सकता है। हमारी शक्ति अंतराय के द्वारा प्रतिहत हो रही है। उसे तपोयोग के द्वारा निर्बाध किया जा सकता है। हम अतीत में किये हुए को बदल सकते हैं। यही साधना की सबसे बड़ी प्रेरणा है। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर, मनुष्य साधना के क्षेत्र में अपना चरण-विन्यास करता है।

२

साधना की भूमिकाएं

- मूढ़ता
- अन्तर्दृष्टि (१)
- अन्तर्दृष्टि (२)
- अन्तर्दृष्टि (३)
- अन्तर्दृष्टि (४)
- अन्तर्दृष्टि (५)
- समत्व
- अप्रमाद, वीतराग और केवली

मूढ़ता

वर्तमान युग की सबसे बडी चिंता है—मनोविकार, आधि, मानसिक रोग। शारीरिक व्याधियां होती है। मनुष्य उनके लिए चिंता भी करता है और उनसे छुटकारा पाने का प्रयत्न भी करता है। जब शरीर मे कोई व्याधि होती है तब हमारा ध्यान शरीर की ओर जाता है। कोई दोष हुआ है; वात, पित्त, या कफ कुपित हुआ है, कोई विजातीय तत्त्व संचित हो गया है या शरीर में कीटाणु प्रविष्ट हो गये हैं, जिससे शरीर में व्याधि हुई है। शरीर की व्याधि का मूल शरीर में ही खोजा जाता है, शरीर की प्रकृति मे, शरीर के दोषों मे या शरीर पर होने वाले बाहरी संक्रमणों में। किंतु शरीर की व्याधि का जो एक मूल है, उस ओर हमारा ध्यान बहुत कम जाता है। वह है आधि, मानसिक विकृति। शरीर की बीमारी को व्याधि और मानसिक बीमारी को आधि कहते है। व्याधि जब होती है तब हमारा ध्यान जाना चाहिए सबसे पहले आधि पर, मानसिक विकृति पर। शरीर में कोई व्याधि उत्पन्न हो तब अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति को सबमे पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि कहा मेरी भूल हुई है ? कहां मन मे कोई विकार आया है ? कौन-सी आधि हुई है जिससे मैं शरीर की व्याधि भुगत रहा हूं ? केवल अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति के लिए ही नही, हर बीमार होने वाले व्यक्ति के लिए यह नियम लागू होता है। हर रुग्ण व्यक्ति को ध्यान देना चाहिए कि शरीर मे जो व्याधि उभरी है, उसके पीछे कौन-सी आधि खड़ी है। यदि हम अपनी शारीरिक व्याधियो के लिए मानसिक विकृतियों पर ध्यान देना प्रारंभ करें तो व्याधि के सही निदान तक पहुंच सकते हैं। हमारा विश्वास है कि डाक्टरों से निदान करवा लिया, एक्सरे करवा लिया, फोटो ले लिये, वैज्ञानिक युग के जितने निदान के उपकरण है उनका उपयोग कर लिया, टेस्ट करा लिया, वैद्यों को नब्ज दिखला दी, समझते हैं निदान हो गया। इतना करने पर भी पूरा निदान नहीं होता।

उसकी एक बड़ी आधार-भित्ति छूट जाती है। वह है मानसिक विकृतियों की खोज। गहरे में उतरकर हम अपनी मानसिक विकृतियों तक नहीं पहुंचते, उन्हें नहीं टटोलते, उनका प्रतिलेखन नहीं करते, तब तक व्याधि का सही निदान हमारे हाथ नहीं लगता।

हम मानसिक विकृतियों पर ध्यान दें। आज के युग की सबसे बडी समस्या है मानसिक विकृति। हो सकता है कि अतीत मे भी कभी इतनी मानसिक विकृति हुई हो, किंतु इसकी कम संभावना है। आज मानसिक विकृति या मानसिक रुग्णता के लिए जितनी सभावना है उतनी शायद पहले नही थी। आज का युग उसके लिए जितना उर्वर है उतना पहले का नही था। इस मानसिक व्यथा या पीड़ा के लिए हम गहरे मे उतरकर ध्यान दे और सोचे कि यह क्यों होती है? मनोविकार क्यों होता है? हम कारण की खोज करे। कारण की खोज मे निकले तो उसका पता लगना मुश्किल नही है। जिन मनुष्यो ने कारण को खोजा है उन्हे वह उपलब्ध हुआ है। कार्य के साथ कारण का संबंध है। कार्य दृष्ट होता है और कारण अदृष्ट। कार्य सामने होता है और कारण छिपा रहता है। मनुष्य ने किसी भी छिपी हुई वस्तु को अज्ञात नहीं रहने दिया, उसे ज्ञात कर लिया। हम उसे ज्ञात कर सकते है। मनोविकार का हेतु खोजा गया और खोजने पर पता चला कि उसका हेतु है मन की मलिनता। प्रतिदिन मन पर मैल जमता है और उस पर रजें चिपट जाती है। मैल पसीना है, रजें चिपटी है तब वह गाढा बन जाता है। वह हमारे शरीर के छिद्रों को रोक लेता है, रोम-कूपो को बद कर देता है। जिनसे प्राणवायु शरीर के भीतर जाती है उन्हे ढक देता है। हमारे मन पर भी मैल जमता है। मन के भी पसीना आता है। वह मैल बनता है, रजे चिपटती है और वह गाढा बन जाता है। मन के छिद्र रुक जाते है। जिनके द्वारा हम स्वस्थ विचारो को ले सकते है वे सब रोम-कूप बंद हो जाते है। फिर भीतर से सडांध होती है और बुरे विचार आते रहते है, बुरी कल्पनाएं उभरती रहती है।

मानसिक विकारों का मूल हेतु है—मन की मलिनता। फिर प्रश्न होगा कि यह मलिनता कहा से आती है? यह पसीना कहा से आता है? पसीने का भी हेतु होता है। हमारी त्वचा के नीचे स्वेद की ग्रंथिया होती है। उन स्वेद-ग्रंथियों के कारण शरीर मे पसीना आता है। मन के नीचे भी कोई स्वेद-ग्रंथि होनी चाहिए जिससे मन पसीजे, पसीना आए, मैल जमे और रजे चिपट जाएं। वहां भी स्वेद-ग्रंथियां है। वे है—राग और द्वेष। उन ग्रंथियों से कुछ-न-कुछ चूता रहता है और मन पर मैल जमता रहता है। राग और द्वेष की ग्रंथियों से मूर्च्छा की तरंगें निकलती है, मूर्च्छा की धार निकलती है, मूर्च्छा का पसीना चूता है, वह मन पर जमता जाता है। मन मलिन होता रहता है। यदि प्राणवायु ठीक मिलता है तो हमारा शरीर बिलकुल ठीक रहेगा, फेफडा पूरा काम करेगा, रक्त शुद्ध रहेगा।

यदि प्राणवायु मिलना बंद हो जाता है तो फेफड़ा पूरा काम नहीं करता, विकृत रक्त शरीर में चक्कर काटने लग जाता है। ठीक ऐसे ही मन को यदि पवित्र वातावरण मिलता है तब वह ठीक काम करता है। किंतु जब वह नहीं मिलता तब मन में बुरे विचार घूमने लगते हैं और मन विकृतियों से भर जाता है। बुरी कल्पनाएं मनुष्य पर हावी हो जाती हैं। मूर्च्छा की तरंगें सघन होते-होते उस पर जम जाती हैं और घनीभूत मूर्च्छा चित्त की एक अवस्था का निर्माण करती है। उस अवस्था का नाम है—मूढ़ता। मन की यह पहली अवस्था है। मन की ऊर्मियां घनीभूत हो जाती हैं। विज्ञान की भाषा में ऊर्जा यानी एनर्जी घनत्व में बदल जाती है, मास (Mass) में बदल जाती है। आज के वैज्ञानिक सापेक्षवाद ने ऊर्जा और द्रव्य, मास और एनर्जी—इन दोनों के बीच कोई स्पष्ट भेदरेखा नहीं खींची है कि दोनों अलग-अलग हैं। उनका सिद्धांत है कि ऊर्जा घनत्व में, द्रव्य में बदल सकता है और द्रव्य ऊर्जा में बदल सकता है। इसी प्रकार मूर्च्छा की सघन ऊर्मियां मूढ़ता मे बदल जाती हैं और मूढ़ता फिर उन मूर्च्छा की ऊर्मियों में बदल जाती है। यह चक्र चलता रहता है। जब मूढता की अवस्था निर्मित हो जाती है, उस समय की स्थिति का हम थोड़ा-सा पर्यवेक्षण करें कि उस मूढता की स्थिति में मनुष्य की क्या दशा बनती है।

मूढता की दशा मे सबसे पहले चिंतन की धारा बदल जाती है। उस अवस्था में चिंतन की धारा का पहला सूत्र होता है कि 'मैं शरीर हूं'। मूढ़ व्यक्ति शरीर और अपने अस्तित्व को भिन्न नहीं मानता। वह व्यक्ति शरीर और आत्मा को, शरीर और चैतन्य को एक मानता है। जब वह चैतन्य और शरीर को एक मानता है, उस स्थिति में अहंभाव का विकास होता है। अहकार का अर्थ है—मैं अमुक हूं। मैं सुखी हूं। मैं दुःखी हूं। मैं बड़ा हूं। मैं छोटा हूं। मैं समृद्ध हूं। मैं गरीब हूं। मैं विद्वान् हूं। मैं मूर्ख हू—इस प्रकार का मनोभाव बनना। जितनी उपाधियां दुनिया मे हो सकती हैं, वे सारी उपाधियां मनुष्य अपने पीछे लगाए घूम रहा है। 'कम्मुणा उवाही जायई'—कर्म से उपाधि होती है। सारी उपाधियां कर्म-जनित होती हैं।

एक ओर है आधि, दूसरी ओर है व्याधि और बीच में स्थित है उपाधि। मनुष्य आधि और व्याधि के बीच में जी रहा है, इसलिए उसके पीछे उपाधि लगती है। जब कोई आधि नहीं होती, जब कोई व्याधि नहीं होती तब कोई उपाधि भी नहीं हो सकती। आधि और व्याधि की देन है उपाधि। आदमी उपाधियों का भार ढोता है और अपने को वह मानता है जो कि वह नहीं है। वह जो है, उसका अनुभव नहीं करता। वह जो नहीं है, उसका अनुभव करता है। आत्मा न सुखी है, न दुःखी है, न समृद्ध है, न गरीब है, न छोटा है, न बड़ा है। आत्मा यह सब कुछ भी नहीं है। फिर भी मनुष्य अपने आपको सब कुछ मानता चला जाता है।

शरीर और आत्मा को एक मानने के कारण एक दूसरा दोष उत्पन्न होता

है। वह है—ममकार अर्थात् मेरापन। मेरा शरीर, मेरा परिवार, मेरी पत्नी, मेरा पुत्र, मेरा पिता, मेरा धन, मेरा मकान, मेरा पदार्थ। वह सारे पदार्थ-जगत् को 'मेरे' में समेट लेता है, उसे भिन्न नहीं रखता। किसी को वह 'मेरेपन' से भिन्न नहीं मानता। इस 'मेरे' की परिधि में सब कुछ समा जाता है। इतनी बड़ी परिधि है। केंद्र बहुत छोटा है।

सामान्यतः वृत्त का जो व्यास होता है उससे तिगुनी होती है परिधि। किंतु ममकार की परिधि तिगुनी तो क्या, तीन करोड़ गुना अधिक है। संभवतः यहां गणित भी गलत हो जाता है। कहा जाता है कि गाणितिक सत्य कभी गलत नहीं होता। वह सदा सत्य होता है। उसमें कभी अंतर नहीं आता। किंतु इस ममकार की परिधि में गणित का सत्य भी असत्य हो जाएगा। गणितज्ञ भी यह गणित नहीं कर पाते। ममकार जो केंद्र में बैठा है उसकी परिधि इतनी बड़ी है कि कोई उसकी कल्पना भी नही कर सकता। सब कुछ उसमें समा जाता है।

जब ममकार और अहंकार—ये दो बीमारियां उत्पन्न हो जाती है, तब इन का विस्तार होता जाता है। इन बीमारियों के कारण विकृति की एक बड़ी धारा निकल पडती है। उसमे से छोटी-छोटी असंख्य धाराए निकलती हैं। उनकी गणना असंभव हो जाती है।

मानसिक विकृतियों की कुछ धाराओं में एक है बड़प्पन की भावना का प्रदर्शन। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको बडा दिखाना चाहता है। उसमे उसे बड़ा संतोष मिलता है। वह सोचता है—"मैं बड़ा हूं और सब छोटे हैं। मुझे लोग बड़ा माने और दूसरों को छोटा मानें। मुझे लोग बड़ा अनुभव करें और दूसरों को छोटा अनुभव करे।" यह बड़प्पन के प्रदर्शन की भावना, अपने आपको बड़ा दिखाने की भावना, मानसिक विकृति है। सचाई कुछ भी नहीं है, केवल विकृति है। जिसका मन पागल होता है उसमे यह विकृति पैदा होती है। दुनिया में ऐसे व्यक्ति विरल है जिनमें यह पागलपन न हो। अधिकांश लोग पागल होते हैं। उन्हे सोलह आना पागल घोषित तो इसलिए नहीं किया जा सकता कि वे थोड़ा बहुत समझदारी का काम भी करते है। फिर भी वे पागल है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

कुछ आदमी बड़प्पन की भावना की बीमारी से ग्रस्त है। वे अपने आपको बड़ा मानते है। यह एक मानसिक विकृति है, कुछ आदमी छुटपन की बीमारी से ग्रस्त हैं। वे अपने आपको छोटा मानते है। वे हीन-भावना से ग्रस्त होते है। वे मानते हैं—"मैं तो बहुत छोटा हूं। मैं दुर्बल हूं। मैं कमज़ोर हूं। मैं यह नही कर सकता। मैं वह नहीं कर सकता।" वे हर स्थान मे अपनी दुर्बलता, अपनी हीन-भावना का अनुभव करते हैं। यह भी एक मानसिक विकृति है, मानसिक बीमारी है। इस प्रकार कहीं बड़प्पन की बीमारी है तो कहीं छुटपन की बीमारी है। कहीं

अहंभावना की बीमारी है तो कहीं हीनभावना की बीमारी है। मनुष्य जब बड़प्पन की भावना से ग्रस्त होता है तब भी वह स्वस्थ नहीं है और जब वह हीन-भावना से ग्रस्त होता है तब भी वह स्वस्थ नहीं है।

तीसरी विकृति है—प्रतिशोध की भावना। कुछ लोग इस भावना से पीड़ित हैं। किसी के द्वारा जाने-अनजाने अप्रिय व्यवहार हो जाने पर व्यक्ति में बदले की भावना जागृत हो जाती है। वह सोचता है—"मैं इसका बदला लेकर ही रहूंगा। जब तक बदला नहीं लूंगा तब तक चोटी नही बांधूंगा। यह खुली ही रहेगी।" महामंत्री चाणक्य ने यही संकल्प किया था कि जब तक नंद साम्राज्य से बदला नहीं ले लूगा तब तक मेरी चोटी खुली ही रहेगी, बंधेगी नहीं। उसने बदला लेकर ही चोटी बांधी।

प्रतिशोध की भावना इतनी तीव्र होती है कि जब तक बदला नही लिया जाता तब तक व्यक्ति को शांति नही मिलती। किसी व्यक्ति ने कहीं थोड़ा-सा तिरस्कार कर दिया और वह अपने अवज्ञा के भाव को स्वीकार न कर ले तब तक शांति नहीं मिलती और यदि वह स्वीकार मात्र कर लेता है, तो इसमें दूसरे व्यक्ति को कुछ भी प्राप्त नही होता, फिर भी उसे लगता है कि आज परम विजय पा ली है और मैं विजेता बन गया हू। यह प्रतिशोध की भावना मन की एक विकृति है, बीमारी है।

मन की एक विकृति है—आक्रमण की भावना। मनुष्य में आक्रमण की भावना होती है, दूसरे के स्वत्व को हड़पने की भावना होती है। वह उसे छीनकर अपने अधिकार मे लेना चाहता है। आक्रमण की यह भावना पागलपन है। जब-जब मनुष्य मे पागलपन बढा है तब-तब आक्रामक भावना भी बढी है और जब-जब आक्रामक भावना बढ़ी है तब-तब पागलपन भी बढा है। कुछ ऐसे सम्राट् या शासक हुए है जिन्होंने विश्व-विजेता बनने का स्वप्न लिया था। उन्होने विश्व-विजय के लिए प्रयत्न किए। वे उसके लिए चले। उन्हे मिला कुछ भी नही और जो कुछ मिला वह भी उनके पास नही टिका। उनके केवल मानसिक स्वप्न की तृप्तिमात्र हुई। उन्होंने मान लिया कि वे विश्व-विजेता हो गए। एक व्यक्ति का पागलपन लाखों-करोड़ों व्यक्तियों की हत्या का हेतु बन जाता है। एक व्यक्ति का पागलपन विश्व के समस्त व्यक्तियो के सुखों को छीनने का हेतु बन जाता है। जब-जब महायुद्ध हुए है, विश्व दु.खी और अशांत बना है। वह आर्थिक दृष्टि से दरिद्र बना। उसका अपार वैभव नष्ट हुआ। लाखों आदमी मरे। लाखों पत्नियां रोती-बिलखती रह गई। लाखों बच्चे अनाथ हो गए। विश्व को कितनी कठिनाइयां झेलनी पड़ी। यदि हम इसके कारण की खोज करें तो हमें मिलेगा कि केवल दो-चार व्यक्तियों का पागलपन इस विनाश-लीला के लिए जिम्मेवार है। आदमी के पागलपन के सिवाय इसका दूसरा कोई कारण हो नहीं सकता। कोई बड़ा

कारण नहीं खोजा जा सकता। यह सच है कि बड़े कारण को लेकर कोई बड़ा युद्ध होता ही नहीं। क्योंकि बड़ी समस्या इतनी साफ़ होती है कि उसे लेकर कभी लड़ाई नहीं हो सकती। हमेशा छोटी बात के लिए लड़ाई होती है और वह छोटी बात मूल कारण नहीं होती। उस लड़ाई के पीछे कारण होता है—मनुष्य का पागलपन। यह है अपने राष्ट्र को सबसे बड़ा बनाना या मानना। यह है अपने आपको विश्व-विजेता के रूप में प्रस्तुत करना। इसी पागलपन ने रक्तरंजित इतिहास का निर्माण किया है।

इस प्रकार की जितनी मानसिक विकृतियां होती हैं, वे सब मूढ़ता की छोटी-छोटी धाराएं हैं।

ईर्ष्या भी मानसिक विकृति है, एक बीमारी है। दूसरे की प्रगति देखी और मन में एक सिकुड़न पैदा हो गयी। यह कोई अर्थवान् नहीं है, कोई सार्थकता नहीं है। किन्तु मन का एक पागलपन है। जब यह होता है तब दूसरे की प्रगति पर दिल जलता है, कुढ़ता है और जल-भुनकर राख हो जाता है।

इन सारी मानसिक विकृतियों का प्रभाव क्या होता है? यह एक प्रश्न है। ये मानसिक विकृतियां तनाव पैदा करती है। पागलपन से पहले तनाव होता है। मस्तिष्क में जब तक तनाव नही होता तब तक पागलपन नहीं आता। तनाव का बिंदु ही पागलपन है। हमारा मस्तिष्क शांत होना चाहिए। जब उसमे तनाव पैदा होता है, उसके तन्तु जब बहुत कस जाते हैं, तब सब कुछ विकृत ही होता है, विकृति ही विकृति पैदा होती है।

हमारे शरीर में दो-चार अवयव बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं—हृदय, गुर्दा, यकृत और मस्तिष्क। यदि गुर्दे स्वस्थ न हों तो मूत्र आदि विजातीय तत्त्वों का छनना नहीं होता। इस अवस्था मे रक्त के साथ दूषित पदार्थ चले जाते है। उससे बड़ी-बडी विकृतियां पैदा होती हैं। यदि यकृत ठीक न हो तो रक्त का उचित निर्माण नहीं होता, रक्ताल्पता की बीमारी हो जाती है, मनुष्य अस्वस्थ बन जाता है। यदि हृदय ठीक काम न करे तो रक्त का संचार ठीक नही होता, रक्त का पंपिंग ठीक नहीं होता, रक्त की शुद्धि भी नहीं होती, शरीर अस्वस्थ बना रहता है। मनुष्य का जीना-मरना हृदय पर निर्भर है। किंतु गुर्दा, यकृत और हृदय से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है मस्तिष्क। मस्तिष्क जब स्वस्थ होता है तब वह दूसरे सारे अंगों को ठीक कर लेता है। वह सारे शरीर का संचालक है। जितने ज्ञान-वाही और क्रियावाही स्नायु है, उन सबका संचालन मस्तिष्क से होता है। शरीर का पूरा संचालन मस्तिष्क से होता है। यह ऐसा नियंत्रण-कक्ष है जो सबका संचालन करता है। इसमें जब थोड़ी-सी विकृति होती है तब शरीर का सारा ढांचा गड़बड़ा जाता है। जब तक मस्तिष्क की चेतना ठीक है, आदमी जीता है। हम इस भ्रांति को भी दूर करे कि हृदय बंद हो जाने से आदमी मर

जाता है। ऐसा नहीं है। हृदय बन्द हो जाने पर भी आदमी नहीं मरता। यदि मस्तिष्क के कोष्ठों में चेतना अवशिष्ट है तो फिर चाहे हृदय बंद हो जाए, आदमी नहीं मरता। बहुत बार ऐसा होता है कि शव को चिता पर लेटा दिया। आग लगाने की तैयारी हो रही है। इतने में ही वह मृत-घोषित व्यक्ति जी उठता है और वहां से चलकर लोगों के साथ घर आ जाता है। वह वर्षों तक जीता है। बहुत आश्चर्य-सा लगता है कि यह क्यों और कैसे होता है? हृदय की धड़कन बंद हो गयी, नाड़ी का स्पंदन रुक गया और प्राणी मृत घोषित हो गया, किंतु मस्तिष्क से चेतना पूरी नहीं निकली, कुछेक कोष्ठों में वह रह गयी, वह जागृत हुई और पूरे शरीर को फिर से सक्रिय बना डाला। शरीर का सारा तंत्र फिर से चालू हो गया। हमारे शरीर का सबसे बड़ा मूल्यवान अंग है मस्तिष्क। जब विकृत मन के द्वारा मस्तिष्क में तनाव पैदा होता है तब पूरा का पूरा शरीर-तंत्र विकारग्रस्त हो जाता है। इस मस्तिष्क की विकृति से बचने के लिए शिथिलीकरण अत्यन्त आवश्यक है। शरीर का शिथिलीकरण होता है वैसे ही मन की अवस्था का शिथिलीकरण भी होता है। शिथिलीकरण यानी विसर्जन। मूढ़ता का शिथिलीकरण यानी मूढता का विसर्जन। इसका तात्पर्य है कि ऐसी कोई भी विकृति न हो, ऐसी कोई मूर्च्छा की तरंग न आए, जो मस्तिष्क को विकृत बना दे। ध्यान और दीर्घश्वास का प्रयोजन भी तो यही है कि शरीर के दोष निकल जाएं। इससे व्याधियां निकलती है, जमे हुए मल निकलते हैं। जब हम मन को श्वास-दर्शन में लगाते हैं उस समय हम राग-द्वेष से मुक्त क्षणों में जीते हैं। उस समय मूर्च्छा के दोष, मन के दोष बाहर निकलते हैं। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

मूढ अवस्था के लक्षण क्या है? उन्हे कैसे पहचाना जा सकता है?

मूढ अवस्था का पहला लक्षण है—विपर्यय। जो मूढ़ होता है वह विपर्यास को प्राप्त होता है। विपर्यास अर्थात् विपरीत बुद्धि। उस समय दृष्टि मिथ्या हो जाती है और जो कुछ हाथ लगता है वह विपरीत ही होता है। सत्य हाथ नहीं आता। दुःख को सुख और सुख को दुःख मान लिया जाता है। हम अपने उत्तरदायित्व को दूसरो पर डाल देते है और दूसरों के उत्तरदायित्व को अपने पर ओढ लेते हैं। सब कुछ विपरीत ही विपरीत। यह है मूढ़ता का पहला लक्षण।

मूढता का दूसरा लक्षण है—अनुबंध। अनंत अनुबंध अर्थात् नये-नये दुःखों का निर्माण। 'कडेण मूढ़ो पुणो पुणो तं करेइ'—मूढ व्यक्ति कभी कोई आचरण कर लेता है। वह उसमें इतना मूढ़ हो जाता है, मोहकता उस पर इतनी छा जाती है कि फिर वह उसे बार-बार दोहराता ही रहता है। जैसे कभी कुछ मिल गया और उसका भोग कर लिया। वस्तु चली गयी, किंतु संस्कार छोड़ गयी, दुःख छोड़ गयी। आज भोजन मे अमुक वस्तु खायी। कल भोजन करने बैठा और उस वस्तु की स्मृति हो आयी। मन दुःखी हो गया। जो वस्तु है वह सुख नहीं दे रही है किंतु

जो नहीं है वह दुःख दे रही है। यह है स्मृति का अनुबंध, स्मृति का दुःख। स्मृति सताती है, दुःख देती है, पीडित करती है।

मूढ मनुष्य को कल्पना भी सताती है। मूढ मनुष्य को स्मृति भी सताती है। मूढ आदमी मे कितने काल्पनिक भय होते है। उसमें कितने काल्पनिक दुःख होते है। वह असंख्य कल्पनाएं करता चला जाता है और उनके अनुपात में दुःखी होता चला जाता है। भविष्य की जितनी आशंका मूढ मनुष्य में होती है, उतनी आशंका जागृत व्यक्ति मे नही होती। मूढ व्यक्ति हमेशा ही इस उधेडबुन में रहता है कि कल क्या होगा? परसों क्या होगा? आगे क्या होगा? संदेह कभी मिटता ही नही। स्मृतियां भी सताती रहती है। सुख दु.ख का हेतु बन जाता है। कभी सुख होता है, वह अपने पीछे इतना दु.ख छोड जाता है कि नये-नये दु.ख उससे उत्पन्न होते रहते है। कोई प्रिय बना। उसने मान लिया कि मुझे प्रिय मिल गया। प्रिय बिछुड गया। अब अपार दु.ख हो गया। सुख तो शायद थोडे समय के लिए रहा होगा, किंतु दु.ख इतना लंबा हो गया कि बार-बार दु.ख की ही स्मृति होती चली गयी। यह है राग और द्वेष का अंतहीन अनुबंध। अनंत शृंखला बन जाती है। एक के बाद एक दु.ख पैदा होता रहता है और उसका अंत नही होता। मूढ अवस्था का दूसरा लक्षण है—अनंत अनुबंध।

मूढ अवस्था का तीसरा लक्षण है—अतींद्रिय सत्यों के प्रति अनास्था। जो मनुष्य मूढ होता है, उसकी अतींद्रिय सत्यों के प्रति कोई रुचि नहीं होती। वह मानता ही नही कि कुछ अतींद्रिय होता है। उसका चिंतन यही कहता है कि जो सामने है वह सत्य है, जो उपलब्ध है वही सार्थक है, जो प्राप्त है वही सब कुछ है। इससे आगे कुछ भी नहीं है। उसका सारा प्रयत्न केवल उपलब्ध के आसपास ही चक्कर लगाता रहता है। कोल्हू का बैल जैसे कोल्हू के आसपास घूमता है, वैसे ही मूढ व्यक्ति उपलब्ध के आसपास घूमता है। वह इससे हटकर कुछ देखने का प्रयत्न ही नही करता। अतींद्रिय सत्य इंद्रियों के परे का सत्य है। मूढ इस ओर एक पैर भी नही रखता। उसमे यह जिज्ञासा ही पैदा नही होती कि जो दृष्ट है उससे परे भी कुछ होना चाहिए। यह मूढता का तीसरा लक्षण है।

मूढ मनुष्य अशुभ लेश्याओं का जीवन जीता है। उसकी लेश्याएं अशुभ होती है। लेश्या अर्थात् आभामंडल। उसका आभामंडल पवित्र नहीं होता, वह विकृत हो जाता है। हर प्राणी के आसपास दो, चार, पांच या सात फुट का आभामंडल होता है, लेश्या होती है। लेश्या अच्छी भी होती है और बुरी भी होती है। आभा-मंडल निर्मल भी होता है और मलिन भी होता है, पवित्र भी होता है और विकृत भी होता है। मूढता के कारण जो आभामंडल बनता है वह इतना विकृत बनता है कि बुरे विचार के लिए पूरी भूमि उपलब्ध हो जाती है, कोई कमी नही रहती। उस समय कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या—ये लेश्याएं ही अधिक-से-

अधिक कार्यरत रहती हैं। तेजोलेश्या आदि शुभ लेश्याएं बहुत ही क्षीण रहती हैं। अधिकांशत: मलिन लेश्याओं का ही आभामंडल आसपास में बना रहता है। उससे विकृत विचार ही उत्पन्न होते रहते हैं। जब तक तेजोलेश्या नहीं होती, तब तक मनुष्य बाह्य निमित्तों से होने वाले स्पंदनों और संवेदनों को ही सुख मानता रहता है। शरीर के भीतर सुखद स्पंदन, सुखद संवेदन हैं, उन तक उसकी गति ही नहीं होती। वह तो सोचता है कि खाऊंगा तो सुख मिलेगा। अच्छे कपड़े पहनूंगा तो सुख मिलेगा। भोग करूंगा तो सुख मिलेगा। जितने-जितने सुख के साधन मान लिये गये हैं या जो सुख के निमित्त स्थापित हैं उन स्थापित सुख के निमित्तों में ही सुख की खोज करता है। उनसे परे, उन निमित्तों के बिना ही अपने भीतर कोई सुख है या सुखद संवेदन उत्पन्न हो सकते हैं, इस बात की कल्पना और संभावना भी करना उसके लिए कठिन है। यह उस अपवित्र आभा-मंडल का ही परिणाम है।

यह हम न मानें कि मूढ व्यक्ति में एकाग्रता नहीं होती। एकाग्रता उसमें भी होती है। उसमें ध्यान भी होता है, किंतु उसका सारा ध्यान, सारी एकाग्रता भिन्न दिशागामी होती है। वह इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए इतना एकाग्र हो जाता है कि मन की सारी शक्ति केंद्रित हो जाती है वस्तु को प्राप्त करने के लिए। संयोग-वश वस्तु मिल गयी तो फिर एकाग्रता की दिशा बदल जाती है। अब उसका ध्यान, उसकी एकाग्रता इस ओर लगेगी कि प्राप्त वस्तु छूट न जाए। इस प्रकार उसमें पदार्थ के नित्यत्व की भावना जागृत हो जाती है। वह मानेगा कि जो संयोग है वह निश्चित रूप से चलता रहे। सचाई यह है कि जो मिला है वह निश्चित ही चला जायेगा। किंतु उस व्यक्ति की मूढता कभी इस सचाई को स्वीकार नहीं करने देगी कि जो संयोग है उसका वियोग भी होगा। वह मूढ व्यक्ति यही स्वीकार कर चलता है कि संयोग स्थायी है, कभी वियोग नहीं होगा। वह संयोग के स्थायित्व के लिए ही प्रयत्न करेगा। उसकी समूची एकाग्रता इष्ट वस्तु की प्राप्ति और इष्ट वस्तु का वियोग न हो, इसी मे लगी रहेगी। उसकी ध्यान-धारा इसी ओर प्रवाहित होगी।

उसमें ध्यान की दूसरी धारा भी बनती है। जो वस्तु इष्ट नहीं है, वह मिल न जाए, इस ओर उसका चिंतन चलेगा। यदि संयोगवश वह अनिष्ट वस्तु प्राप्त हो जाती है तो उससे बिछुड़ने के लिए उसका सारा चिंतन चलता रहता है। उस समय सारी स्मृतियों का मुंह एक ही दिशा में लग जाता है। क्या यह ध्यान नहीं है? यह पूरी एकाग्रता है। इतनी एकाग्रता शायद अध्यात्म के साधक को भी करने में कठिनाई होती है। मूढ व्यक्ति में यह एकाग्रता सहजतया होती है। श्वास पर जितनी एकाग्रता हमारी नहीं सधती, शरीर-प्रेक्षा में जितनी एकाग्रता नहीं सधती, उतनी एकाग्रता प्रिय की प्राप्ति और अप्रिय की अप्राप्ति करने में सध जाती है।

एकाग्रता की और-और भी दिशाएं हैं। बीमारी जब होती है तब उसे मिटाने के लिए व्यक्ति आकुल-व्याकुल हो उठता है, बेचैन हो जाता है। इस चिंतन में न जाने वह क्या-क्या कर लेता है। वह अकरणीय कार्य भी कर लेता है। बीमारी को मिटाने के लिए, वेदना को दूर करने के लिए वह सब कुछ करने के लिए तत्पर रहता है।

एकाग्रता की एक दिशा है—आसक्ति की तीव्रता। कोई भी मनोज्ञ वस्तु सामने आती है और मनुष्य उसकी प्राप्ति के लिए संकल्प करता है। वह उस वस्तु को पाने के लिए अपनी संपूर्ण संकल्प-शक्ति का प्रयोग करता है, उसे उसी मे खपा देता है। तपस्या या अन्य माध्यम से अर्जित शक्ति को पदार्थ-प्राप्ति में खपा देना निदान कहलाता है। आज होनेवाले युद्ध इस निदान के उदाहरण हैं। व्यक्ति संकल्प करता है कि मैं विश्व का सर्वश्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हो सकूं, इसकी प्राप्ति के लिए वह अर्जित को खपा देता है।

इन सारी दिशाओ मे मनुष्य की एकाग्रता होती है, ध्यान होता है। आप इस भ्रांति को निकाल दें कि एकाग्रता का कोई मूल्य नहीं है। उसका अपना मूल्य है। एकाग्रता किस दिशा में प्रवाहित है, किस दिशा मे स्थिर है, इसी आधार पर उसकी मूल्यवत्ता आंकी जाती है। यदि एकाग्रता पदार्थगामी है तो वह काम्य नहीं है, इष्ट नहीं है, प्रयोजनीय नहीं है। एकाग्रता वही काम्य, इष्ट और प्रयोजनीय है, जो हमारे चैतन्य जागरण में निमित्त बनती है। चैतन्य के जागरण के लिए होने वाली एकाग्रता अध्यात्म के साधक के लिए बहुत मूल्यवान है। पदार्थोन्मुखी एकाग्रता का अध्यात्म की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। इससे मानसिक बीमारिया पैदा होती है, मानसिक विकृतियां पैदा होती है। वर्तमान युग की मानसिक विकृतियो का, मानसिक बीमारियों का, मानसिक पागलपन का, मानसिक असतुलन का निदान केवल मूर्च्छा की तरंगों में ही खोजा जा सकता है। हमारा प्रयत्न यह हो कि मूर्च्छा टूटे और जागृति बढ़े।

अन्तर्दृष्टि (१)

हम दो प्रकार के प्रकाशों से परिचित है—प्राकृतिक और कृत्रिम। सूर्य का प्रकाश प्राकृतिक है और बिजली तथा आग का प्रकाश कृत्रिम है। प्राकृतिक प्रकाश से भी हम देख पाते हैं और कृत्रिम प्रकाश से भी हम देख पाते हैं। प्रकाश प्रकाश है, फिर चाहे वह प्राकृतिक हो या कृत्रिम। जब प्रकाश होता है तब देखने की क्षमता का उपयोग हो जाता है। आंख होने पर भी यदि प्रकाश न हो तो हम देख नहीं पाते। देखने के लिए आंख की क्षमता भी आवश्यक है और प्रकाश भी आवश्यक है। मनुष्य के जीवन मे कभी-कभी ऐसा घटित होता है कि उसे एक नया प्रकाश मिलता है। वह प्रकाश मिलता है जो आज तक नहीं मिला था। अनुपलब्ध उपलब्ध होता है, अघटित घटित होता है। ऐसा प्रकृति या निसर्ग से भी होता है और ज्ञान पर किसी दूसरे ज्ञान की चोट पड़ने पर भी होता है।

जो एक अंतर्दृष्टि जागृत होती है, वह कभी-कभी निसर्ग से, प्रकृति से जागृत हो जाती है। ऐसे गूढ़ निमित्त पीछे रहते हैं, उनका हमें पता नहीं चलता और वह अंतर्दृष्टि तत्काल प्रकट हो जाती है। कभी-कभी ज्ञानी के ज्ञान की चोट खाकर हमारे अंतर् की आंख खुलती है। कोई ऐमी तीव्र चोट होती है और अंतर्दृष्टि जाग जाती है।

अंतर्दृष्टि अध्यात्म की पहली भूमिका है। अंतर्दृष्टि का जागरण अध्यात्म-विकास की पहली अवस्था है। जैसे ही अंतर्दृष्टि जागती है, मूढ़ता समाप्त हो जाती है। इससे पूर्व मूढ़ता का एकछत्र साम्राज्य रहता है। अंधकार ही अंधकार! सर्वत्र सघन अंधकार! बहिर्दर्शन ही बहिर्दर्शन! पौद्गलिकता ही पौद्गलिकता! मूर्च्छा की तरंगें ही तरंगें! उन मूर्च्छा की तरंगों के सामने कोई प्रतिरोधक शक्ति नहीं होती। उस मूढ़ अवस्था के सामने कोई रुकावट नहीं होती, कोई अवरोध नहीं होता। जैसे ही अंतर्दृष्टि खुलती है, मूर्च्छा के समक्ष प्रतिरोध की शक्ति

खड़ी हो जाती है और मूढ़ता का एकछत्र साम्राज्य टूट जाता है ।

अंतर्दृष्टि का अर्थ है—अंतर् का दर्शन । शरीर के बाहर का दर्शन या शरीर के भीतर का दर्शन अंतर्दर्शन नहीं है । चाहे हम शरीर के बाहर देखें, चाहे शरीर के भीतर देखें, यह अंतर्दर्शन नहीं है । अंतर्दर्शन कुछ और होता है । वह यह है कि पौद्गलिकता से परे कुछ है, इसका भान हो जाना । जब अंतर्दृष्टि का जागरण होता है तब मनुष्य को यह भान होता है कि मैं शरीर नहीं हूं । शरीर अचेतन है, मैं चेतन हूं । शरीर पुद्गल है, मैं अ-पुद्गल हूं । शरीर मूर्त है, मैं अमूर्त हूं । अचेतन, पुद्गल और मूर्त के प्रतिपक्ष में एक नये तथ्य का उदय होता है, नये रहस्य का उद्घाटन होता है । चेतन, अ-पुद्गल और अमूर्त का भान होता है ।

दर्शन और तर्क के क्षेत्र में चेतन और अचेतन के विषय में अनगिन विचारणाएं स्फुरित हुई हैं । उनका लेखा-जोखा करना भी संभव नहीं है । इनकी स्थापना के लिए तर्क का बहुत बड़ा जाल बिछा हुआ है । कुछ दार्शनिकों ने चेतन की सत्ता की स्थापना की तो कुछ दार्शनिकों ने उसका निरसन किया, खंडन किया । चेतन की सत्ता की स्थापना एक बहुत जटिल समस्या है, क्योंकि हमारे जीवन का सारा परिसर, सारा परिवेश और सारा वातावरण पुद्गल का है । हम जिन आंखों से देखते हैं वे आंखे पौद्गलिक हैं । हम जिस मन से सोचते हैं वह मन पौद्गलिक है । हम जिस भाषा में बोलते है, वह भाषा पौद्गलिक है । हम जिस शरीर से सारे क्रिया-कलापों का संचालन करते है वह शरीर पौद्गलिक है । हम जिस स्मृति से याद करते हैं वह स्मृति पौद्गलिक है । इस प्रकार स्मृति पौद्-गलिक, मनन-चिंतन पौद्गलिक, मन पौद्गलिक, इंद्रियां पौद्गलिक, फिर हमारे पास ऐसा कौन-सा साधन रहा जो अपौद्गलिक सत्ता की स्थापना कर सके ?

कम्प्यूटर ने इतने चमत्कारी कार्य कर दिखाये कि मनुष्य का मस्तिष्क भी उन्हें नही कर सकता । हमारे सारे ज्ञान का वाहक है मस्तिष्क । सारे तर्क, सारी विचारणाएं इसी के द्वारा स्फुरित होती है । वह मस्तिष्क पौद्गलिक है । कम्प्यूटर सबसे बड़ा मस्तिष्क है । उसकी तुलना सामान्य ज्ञानी नही कर सकता । उसकी तुलना कोई चतुर्दशपूर्वी ही कर सकता है ।

तीन शब्द है—मनोबली, वचनबली और कायबली । जिस साधक को मनोबल लब्धि प्राप्त होती है वह अंतर्मुहूर्त मे चौदह पूर्वों का परावर्तन कर सकता है । पूर्व अथाह ज्ञान के भंडार हैं । उनका परावर्तन ४८ मिनिट मे करना विशिष्ट शक्ति का द्योतक है । जिसे वचनबल लब्धि प्राप्त है वह पूर्व की ज्ञानराशि का उच्चारण अंतर्मुहूर्त में कर सकता है । यह बात बुद्धिगम्य नही होती, किंतु कम्प्यूटर के आविष्कार ने इस बात को बुद्धिगम्य बना डाला, समस्या का हल कर डाला । कम्प्यूटर एक सेकण्ड में एक लाख छियासी हजार गणित के भागों (विकल्पों) का गणित कर लेता है । विद्युत् की जितनी गति है, उसके अनुसार वह कार्य कर

लेता है। विद्युत् की गति एक सेकंड में १,८६००० मील की है। इतनी ही तीव्र गति से कम्प्यूटर गणित के विकल्पों का गणित कर लेता है। विद्युत् की गति से चलने वाला कम्प्यूटर एक सेकंड में इतना बडा काम कर सकता है तो चतुर्दशपूर्वी एक अंतर्मुहूर्त में सारे ज्ञान का पारायण या उच्चारण क्यों नहीं कर सकता ? कर सकता है। कम्प्यूटर के पास विद्युत् की शक्ति है तो चतुर्दशपूर्वी के पास तैजस शक्ति है। उसका तैजस शरीर इतना विकसित हो जाता है, उसकी दैहिक विद्युत् इतनी तीव्रगामी हो जाती है कि वह यह काम सहजता से कर सकता है। तैजस की विद्युत् इस विद्युत् से अधिक शक्तिशाली होती है। इतना होने पर भी हम अपौद्गलिकता की सीमा में नहीं जा सके। चाहे कम्प्यूटर की त्वरित शक्ति हो, चाहे चतुर्दशपूर्वी की त्वरित शक्ति हो, यह है सारी पौद्गलिक सीमा मे। कम्प्यूटर विद्युत् की धारा के सहारे अपना कार्य करता है और चतुर्दशपूर्वी तैजस शरीर की विद्युत्-धारा के सहारे अपना कार्य करता है। विद्युत्-धारा भी पौद्गलिक है और तैजस शरीर भी पौद्गलिक है। वे अ-पौद्गलिक नहीं हैं। समस्या का कोई समाधान नही हुआ। तत्त्व-चिंतन के आधार पर, तर्क के आधार पर, दर्शन के आधार पर, दार्शनिक प्रतिपादनों के आधार पर, तार्किक निर्णयों, समीक्षाओं और प्रत्ययों के आधार पर आत्मा और अनात्मा, चेतन और अचेतन, पुद्गल और अ-पुद्गल का निर्णय किया जा सकता है—यह आज तक प्रतिभाषित नहीं हुआ। इनके द्वारा कभी समाधान हो ही नही सकता। तर्क का एक प्रवाह होता है। दुर्बल तर्क वाला परास्त हो जाता है और सबल तर्क उस पर हावी हो जाता है। यह जय और पराजय की बात हो सकती है, किंतु यह निर्णय की बात नही हो सकती। समूचे दर्शन और तर्क के क्षेत्र में, समूचे न्यायिक क्षेत्र मे इस प्रश्न की मीमांसा हुई, किंतु आज तक उसका समाधान नहीं हो सका। आज हजारों वर्षों की चर्चाओं के बाद भी वैसे के वैसे दो खेमे बने हुए हैं। एक खेमा है आत्मा को मानने वालों का और दूसरा खेमा है आत्मा को नहीं मानने वालों का। आत्मा को मानने वालों के अपने तर्क हैं और आत्मा को नकारने वालों के अपने तर्क है। दोनों अपने-अपने मत का प्रबलतम समर्थन करते हैं। कोई किसी के आगे झुका नहीं है। कोई किसी को झुका नही सका है। दोनों के तर्क अपनी-अपनी रणभूमि की सीमा में आमने-सामने खड़े है। कोई किसी को परास्त नही कर पा रहा है।

अध्यात्म का विकास जिस व्यक्ति में होता है वह इस शाश्वत प्रश्न का समाधान पा लेता है। चाहे वह यह समाधान दूसरों को न दे सके, किंतु अपने आप में वह पा लेता है। दूसरों को देने में तो वे ही खतरे फिर आ जाते है। दूसरों को समाहित करने मे भाषा का माध्यम चाहिए, बुद्धि का माध्यम चाहिए, मनन और चिंतन का माध्यम चाहिए। हम अपने अनुभव को भाषा के माध्यम से प्रकट न कर सकें, यह भिन्न प्रश्न है। किंतु स्वयं का समाधान इससे अनुबंधित नही है।

अध्यात्म से स्वयं का समाधान हो जाता है। कोई संदेह नहीं रहता। यह सब होता है साधना के क्षेत्र में, अध्यात्म के क्षेत्र में। साधना के द्वारा ऐसा विस्फोट होता है कि मूर्च्छा की दीवारें टूट जाती हैं और यह स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि मैं वह हूं जो ज्ञाता है, द्रष्टा है। आत्मा का एकमात्र लक्षण हो सकता है ज्ञाता और द्रष्टा। आज इतने विकास के बावजूद ऐसा कोई यंत्र नहीं बना जो ज्ञाता और द्रष्टा हो। यंत्र में स्मृति की शक्ति आरोपित की जा सकती है। आप कोई बात भूल गये। कम्प्यूटर आपको याद दिला देगा कि आप कहां भूल कर रहे हैं। आप गणित में गलती करते हैं, कम्प्यूटर आपको सावधान कर देगा। किंतु ज्ञाता और द्रष्टा बनने की क्षमता उसमें नहीं है। कोई भी ऐसा पुद्गल नहीं है जो ज्ञाता-द्रष्टा है। आत्मा का लक्षण है—जानना, देखना। जो अकर्मा है, वह जानता, देखता है। यह नहीं कि जो अकर्मा है वह सोचता है, मनन करता है। अकर्मा नहीं सोचता। आत्मा को सोचने की जरूरत नहीं होती। सोचने की जरूरत इस मस्तिष्क को होती है। आत्मा को याद करने की जरूरत नहीं होती। आत्मा को कल्पना करने की जरूरत नहीं होती। कल्पना, स्मृति और चिंतन—इन सबसे परे जो है वह है ज्ञाता और द्रष्टा, जो जानता है, जो देखता है। वह न कल्पना करता है, न याद करता है और न सोचता है। वहां कोई माध्यम नहीं है। स्मृति में माध्यम की जरूरत होती है। कल्पना और चिंतन मे माध्यम की जरूरत होती है। ज्ञाता और द्रष्टा को किसी चिंतन की जरूरत नहीं होती। वह अपनी ज्ञानशक्ति के बल पर ही जान लेता है। बिना किसी माध्यम के, बिना किसी सहारे के वह चैतन्य के द्वारा सब कुछ जान लेता है, देख लेता है। इस चेतना लक्षण का कोई प्रतिद्वंद्वी तर्क आज तक उपलब्ध नहीं हुआ जिससे यह प्रमाणित कर सके कि यह अचेतन है, फिर भी जानता है, देखता है। आज तक ऐसा प्रमाणित नहीं हो सका।

तर्क के द्वारा यह प्रमाणित नही हो सकता। अनुभव से ऐसा जाना जा सकता है। जानो और देखो, अनुभव करो। श्वास को जानो। यह भी बहुत बड़ी क्रिया है। जो आते-जाते श्वास को जान रहे है वे कल्पना नहीं कर रहे है, स्मृति नही कर रहे हैं, केवल जान रहे है, देख रहे है, अनुभव कर रहे हैं। केवल शुद्ध आत्मा का उपयोग कर रहे हैं, शुद्ध चेतना का उपयोग कर रहे हैं।

जो नही जानते वे यह सोच सकते हैं कि श्वास जैसी छोटी वस्तु को देखने-जानने से क्या ? इतनी छोटी बात को हर कोई जान लेता है, देख लेता है। इसमें विशेषता है ही क्या ? आप सोचें। आप देखते हैं तो सिनेमा को देखते है, चलचित्र को देखते हैं और जानते हैं तो दूसरों को जानते हैं। किंतु अपने श्वास को जानने-देखने की बात आपको उपलब्ध नहीं है। शुद्ध चैतन्य का उपयोग है केवल जानना-देखना। इसमें कोई राग नही, कोई द्वेष नहीं। श्वास को जानने-देखने का अर्थ है

राग-द्वेष से मुक्त क्षण में जीना, वीतरागता का जीवन जीना।

जिस साधक में स्फोट होता है वह आत्मा को उपलब्ध हो जाता है और उस भूमिका पर पहुंचकर वह कहता है कि 'मैं शरीर नहीं हूं।' 'मैं पुद्गल नहीं हूं।' 'मैं मूर्त नहीं हूं।' यह अध्यात्म-विकास की पहली भूमिका है।

जब यह अवस्था घटित होती है तब चिंतन की धारा बदल जाती है। चिंतन की जो मूढ़ अवस्था थी, उसमें परिवर्तन आ जाता है। जब साधक कहता है—'मैं शरीर नहीं हूं', तब इससे चिंतन का एक स्रोत निकलता है जिसे हम 'अन्यत्व अनुप्रेक्षा' कहते हैं। आज तक यह मान रखा था कि जो 'शरीर है वह मैं हूं' और 'जो मैं हूं वह शरीर है।' अब अन्यत्व अनुप्रेक्षा का जागरण हुआ तो यह स्पष्ट बोध हो गया कि शरीर अन्य है, मैं अन्य हूं। यह अन्यत्व अनुप्रेक्षा प्रस्फुटित होती है। जब यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि मैं शरीर से भिन्न हूं, तब मूर्च्छा पर इतना तीव्र प्रहार होता है कि मोह का किला ढह जाता है, क्योंकि मोह का उद्गम-स्थल है शरीर। आदमी शरीर को ही सब कुछ मानकर कार्य करता है। जब यह मोह टूट जाता है, यह भ्रांति टूट जाती है, अनादिकालीन भ्रम की दीवार खंड-खंड हो जाती है तब यह स्पष्ट बोध होता है कि मैं शरीर नहीं हूं। इस बोध के साथ-साथ सारी विचारधाराएं बदल जाती हैं। 'यह शरीर मेरा नहीं है,' 'मैं शरीर नहीं हूं'; अहंकार की गाढ़ ग्रंथि खुल जाती है। 'यह शरीर मेरा नहीं है'—ममकार की गाढ़ ग्रंथि खुल जाती है। उसे रास्ता मिल जाता है। रास्ता उसी को मिलता है जिसकी ममकार की ग्रंथि खुल जाती है।

ममत्व की ग्रंथि का आदि-बिंदु है शरीर। जब यह गांठ खुल जाती है तब मार्ग स्पष्ट दीखने लग जाता है। वह जान लेता है कि उसे क्या करना है? कहां जाना है? जब अहंकार और ममकार—दोनों की गांठें खुल गयीं—'मैं शरीर नहीं हूं,' 'शरीर मेरा नहीं है'—तब नये चैतन्य का उदय होता है। उस सूर्य का उदय हो गया जो कभी अरुणाचल पर आया नहीं था, जो कभी पूर्वांचल में नहीं आया था। कभी उगा नहीं था। जब ऐसे सूर्य का उदय होता है तब जीवन की सारी दिशा बदल जाती है। आप सोच सकते हैं कि क्या इस भूमिका में जीने वाला कभी व्यवहार की भूमिका में जी सकेगा? मैं मानता हूं कि वह अच्छी तरह से जी सकेगा। किंतु यह संभव कैसे होगा? जिसने यह मान लिया कि मैं शरीर नहीं हूं, शरीर मेरा नहीं है, क्या वह शरीर के प्रति उदासीन नहीं हो जायेगा? क्या वह शरीर के प्रति विरक्त नहीं हो जायेगा? क्या यह शरीर के प्रति उपेक्षा नहीं है? क्या ऐसा व्यक्ति जीवन को चला पायेगा? जो व्यक्ति शरीर के प्रति उपेक्षा बरतेगा, क्या वह परिवार के प्रति अनुरक्त रह पायेगा? क्या वह देश के प्रति अनुरक्त रह पायेगा? वह अपने दायित्वों और कर्तव्यों को कैसे निभा पायेगा? ये प्रश्न सहज हैं किंतु इन प्रश्नों में कोई व्यावहारिक कठिनाई नहीं है। जिसने यह

स्पष्ट रूप से जान लिया कि शरीर भिन्न है और मैं भिन्न हूं, उसने शरीर के साथ संबंध की एक योजना कर ली। उस संबंध को अनेक रूपकों में अभिव्यक्ति दी गयी है। महावीर ने कहा—शरीर नौका है और आत्मा नाविक है। उपनिषद्-कारों ने कहा—शरीर रथ है और आत्मा रथिक है। शरीर घोड़ा है और आत्मा घुडसवार है। क्या समुद्र में तैरने वाला नाविक कभी अपनी नौका की उपेक्षा कर सकता है? ऐसा वह कभी नहीं कर सकता। समुद्र की तेज धारा में वह जा रहा है, अथाह जल है और पार होने का एकमात्र साधन है नौका। क्या कोई ऐसा मूर्ख व्यक्ति मिलेगा जो समुद्र में उतरकर भी नौका की उपेक्षा करे? कभी नहीं कर पायेगा। वह नौका की पूरी रक्षा करेगा। उसे कुछ भी आंच नही आने देगा।

एक प्रश्न यह है कि जो व्यक्ति शरीर और आत्मा को एक मानता है, अभिन्न मानता है, वह भी शरीर को बहुत संभालकर रखता है, उसका संरक्षण करता है और जो व्यक्ति शरीर और आत्मा को भिन्न मानता है, अलग-अलग मानता है, वह भी शरीर को संभालकर रखता है। फिर दोनों मे अंतर क्या है? दोनों की धारणाओं मे, स्थापनाओं मे क्या फर्क पड़ा? दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। इसको हम समझें। नाविक नौका को संभालकर रखता है किन्तु उससे चिपककर नहीं रहता। वह स्पष्ट जानता है कि जब तक तट प्राप्त नही हो जाता, तब तक उसके लिए नौका नौका है, वह ग्रहण करने योग्य है। जब तट प्राप्त हो जाता है तब नौका उसके लिए व्यर्थ है, तब नौका की कोई सार्थकता नहीं रह जाती। किंतु जो शरीर और आत्मा को भिन्न नहीं मानता, वह तट आने पर भी नौका से चिपटा रहता है। वह यह सोचता है कि नौका ने मुझे पार लगाया है, अब इसे मैं क्यों छोड़ूं? जो नौका है वह मैं हूं और जो मैं हूं वह नौका है। मैं नौका को अपने से अलग नहीं कर सकता। वह नौका से चिपट जाता है। यह चिपट जाने वाली बात उस मनुष्य में उत्पन्न होती है जो शरीर और आत्मा को एक मानता है। नौका को साधन मात्र मानने की मति उस मनुष्य मे जन्म लेती है जो नौका को केवल साधन मानता है और प्रयोजन सिद्ध होने पर उसे छोड देता है। यह व्यवहार का लोप नही है।

यह सच है कि उन लोगो ने बहुत बड़ी समस्याएं पैदा की है जो पदार्थ से चिपके रहे। सभी युद्धों का कारण भी यही चिपकाव रहा है। शरीर भी एक पदार्थ है। जो शरीर से चिपका रहता है, वह सबके साथ चिपका रहता है। जो शरीर के साथ चिपका हुआ नहीं है वह किसी के साथ भी चिपका हुआ नहीं होता। जिस व्यक्ति का शरीर के साथ चिपकाव नही रहा, जो शरीर को जीवन-यापन का साधन-मात्र मानकर चलता है, उस व्यक्ति ने दुनिया मे कभी कोई अनर्थ पैदा नही किया। उस व्यक्ति ने द्वंद्व या संघर्ष कभी उत्पन्न नहीं किया। क्योंकि वह मानकर चलता है कि पदार्थ मात्र साधन है, एक उपयोगिता है, चिपकाव की वस्तु

नहीं है। जीवन-धारा में कितना बड़ा अंतर आता है, आप स्वयं अनुभव करें। एक आदमी पदार्थ को साधन मानता है और एक उसको अभिन्न मानता है। अभिन्न मानने में जो स्फुलिंग उछलते हैं, वे साधन मानने से नहीं उछलते। बहुत बार कहा जाता है कि धन को साधन मानो। उसका संग्रह मत करो। किंतु यह हो नहीं सकता। जब आदमी शरीर को साधन नहीं मानता तो फिर वह धन को साधन कैसे मानेगा ? वह शब्दों में भले ही दोहरा दे, पर यथार्थ में वह उसे स्वीकार नहीं करेगा। स्वीकार तब होता है जब ममत्व छूट जाता है, मार्ग दीख जाता है, कोई संदेह नहीं रहता, कोई भय नहीं रहता। उस स्थिति में ही यह ज्ञान विकसित हो सकता है, ज्ञाता और दृष्टा का भाव विकसित हो सकता है। उस स्थिति में बहुत सारी आधियां और व्याधियां टूटने लगती हैं तथा उपाधियां भी एक-एक कर खंडित होती जाती हैं। जब आदमी ज्ञाता और द्रष्टा हो गया तो फिर कौन-सी उपाधि बच गयी। विश्व में एक ही निरुपाधिक वस्तु है। वह है—ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव। शेष सब सोपाधिक है, सबके साथ विशेषण जुड़े हुए है।

एक प्रश्न पूछा गया—'अत्थि उवाही पासगस्स'—क्या द्रष्टा के कोई उपाधि है ? उत्तर मिला—'णत्थि उवाही पासगस्स'—द्रष्टा के कोई उपाधि नहीं होती। जो द्रष्टा है उसके क्या उपाधि हो सकती है ! कोई उपाधि नहीं होती। इस प्रकार निरुपाधिक अवस्था का सूत्रपात अध्यात्म-विकास की पहली भूमिका मे हो जाता है। अंतर्दृष्टि आते ही यह सब कुछ घटित हो जाता है।

अन्तर्दृष्टि (२)

जब अंतर्दृष्टि खुलती है तब 'मैं शरीर नहीं हूं,' 'शरीर मेरा नहीं है'—यह विवेक-चेतना जागृत होती है। इस विवेक-चेतना के जागृत हो जाने पर कायोत्सर्ग की भूमिका दृढ होती है, कायोत्सर्ग सधता है। जब तक शरीर का अभिमान नही छूटता, शरीर मेरा है—यह भान नहीं छूटता तब तक कायोत्सर्ग नहीं सध सकता। कायोत्सर्ग का अर्थ केवल प्रवृत्ति का विसर्जन नही है, केवल शिथिलता नहीं है। शिथिलता और प्रवृत्ति का विसर्जन भी कायोत्सर्ग का एक अर्थ है, किंतु इतना ही अर्थ नहीं है। कायोत्सर्ग का मूल अर्थ है—शरीर का अभिमान छूट जाना, शरीर का ममत्व छूट जाना। देहाभिमान का न होना कायोत्सर्ग है। जब तक 'शरीर मेरा है'—यह भान बना रहता है तब तक कायोत्सर्ग नहीं सधता। जब तक शरीर की पकड़ रहती है तब तक कायोत्सर्ग नही हो सकता। शारीरिक शिथिलता से स्वाभाविक तनाव समाप्त हो जाता है किंतु मानसिक तनाव समाप्त नहीं होता। जब तक मानसिक ग्रंथि नहीं खुलती तब तक कायोत्सर्ग नही हो सकता। कायोत्सर्ग के लिए दोनों बातें आवश्यक हैं—शारीरिक तनाव का विसर्जन और मानसिक तनाव का विसर्जन। शारीरिक तनाव का समाप्त होना और मानसिक ग्रथियों का खुल जाना ही कायोत्सर्ग का सधना है। जब तक 'शरीर मेरा है' और 'मैं शरीर का हूं'—यह पकड़ बनी रहती है तब तक मानसिक ग्रंथियां कैसे खुलेगी ? नहीं खुल सकेंगी। मन मे सदा तनाव पैदा होते ही रहते है। शरीर पर एक मक्खी बैठते ही तनाव पैदा हो जाता है। जैसे ही मक्खी बैठती है, वैसे ही मस्तिष्क के पास संदेश पहुच जाता है। मस्तिष्क का निर्देश होता है और मांसपेशिया सक्रिय हो जाती है और मक्खी को उड़ाने का कार्य शुरू हो जाता है। संदेश मस्तिष्क तक पहुंचना, मांसपेशियों का सक्रिय होना और मक्खी का उड़ाया जाना—यह सब कार्य क्षणभर में घटित

हो जाता है। शरीर बाहर का कुछ भी सहन नहीं कर सकता। यह शरीर का अभिमान जब तक है तब तक तनाव समाप्त नहीं हो सकता।

एक प्रश्न आता है कि शरीर को सर्वथा छोड़ देना—यह कैसे संभव हो सकता है? कायगुप्ति, काय-संयम, काय-संवर, काय-प्रतिसंलीनता और कायोत्सर्ग—ये सब काया से संबंधित हैं। इन सबका काया से संबंध है किंतु कायोत्सर्ग इन सबसे अलग पड़ जाता है।

काया को बचाना कायगुप्ति है। काया से असंयम की प्रवृत्ति न करना काय-संयम है। काया को सुरक्षित रखना काया की प्रतिसंलीनता है। किन्तु कायोत्सर्ग कुछ और ही वस्तु है। उसका सबंध संयम या संवर या गुप्ति से नहीं है। उसका संबंध है कि जो वस्तु चैतन्य के साथ अभिन्नता स्थापित किए हुए है, उस अभिन्नता के संबंध को तोड़ देना, संबंध का विच्छेद कर देना। चिरकाल से चले आ रहे एकत्व को तोड़ देना, अभिन्नता को समाप्त कर देना। चैतन्य के साथ, आत्मा के साथ काया की जो एकता बनी हुई है, अभेद बना हुआ है, अद्वैत स्थापित हो चुका है, उस अद्वैत को, अभेद को और एकता को तोड़ देना कायोत्सर्ग है। यह है काया का विसर्जन, जीते-जी शरीर को छोड़ देना। जब तक कायोत्सर्ग की स्थिति उपलब्ध नहीं होती तब तक आध्यात्मिक विकास का कोई भी चरण नहीं उठता, आगे नहीं बढ़ता। आध्यात्मिक विकास का पहला चरण तब उठता है जब कायोत्सर्ग सध जाता है। अंतर्दृष्टि खुलती है तब कायोत्सर्ग सधता है। जैसे-जैसे कायोत्सर्ग सधता है वैसे-वैसे अंतर्दृष्टि का अधिक विकास होता जाता है। जैसे-जैसे अंतर्दृष्टि विकसित होती है कायोत्सर्ग की भूमिका दृढ़तर होती जाती है। अंत-र्दृष्टि और कायोत्सर्ग—दोनों में अन्योन्याश्रित संबंध है। दोनों में परस्पर गहरा संबंध है। अध्यात्म-साधना का यह पहला चरण है, पहली भूमिका है। अंतर्दृष्टि का जागना और कायोत्सर्ग का सधना आध्यात्मिक विकास की पहली भूमिका है। आत्मा और शरीर का भेद-ज्ञान होना, विवेक का पूर्ण जागरण होना—यह पहला चरण है। इसमें मूढ़ता समाप्त हो जाती है। जो मोहकता शरीर के माध्यम से चारों ओर फैल रही थी, वह इस भूमिका में सिमटने लग जाती है। संयम के लिए और पूरे अध्यात्म-विकास के लिए एक उर्वर भूमि तैयार हो जाती है। जब कायोत्सर्ग सधता है तब उस उर्वर भूमि में संयम का बीज बोया जा सकता है। भेद-ज्ञान स्पष्ट होने पर संयम का बीज बोया जा सकता है। जब विवेक-चेतना जाग जाती है तब अप्रमाद का बीज बोया जा सकता है। यह अंतिम विकास नहीं है। यह विकास की पहली भूमिका मात्र है। किंतु इसके हुए बिना अध्यात्म का विकास हो ही नहीं सकता। इसके होने पर ही अध्यात्म का शेष विकास होता है। इस-लिए इस भूमिका का बहुत बड़ा महत्त्व है। जब कायोत्सर्ग सधता है तब विकास की नयी-नयी दिशाएं उद्घाटित होने लग जाती है। अध्यात्म के नये आयाम खुलने

लग जाते है । उद्घाटित होने वाला पहला आयाम है अभय का । जब तक अंतर्दृष्टि नहीं जागती, जब तक काया का विसर्जन नहीं होता, जब तक देहाभिमान से छुटकारा नहीं मिलता तब तक हजार प्रयत्न करने पर भी भय समाप्त नहीं होता ।

आप सोचते होंगे कि युद्ध के मोर्चे पर लडने वाले योद्धा का न तो अंतर्दर्शन स्पष्ट हुआ है और न कायोत्सर्ग सधा है, किंतु वह कितना निर्भीक होता है कि मौत के मुंह पर जाकर खडा हो जाता है । यह भ्रांति है । किसने कहा है कि योद्धा निर्भीक होता है ? इस भ्रांति को हम तोड़ें । अभय वह होता है जो शस्त्र का सहारा नहीं लेता । जो हमेशा शस्त्रों की सुरक्षा मे चलता है, जिसके चारों ओर शस्त्रों का सुरक्षा-कवच है वह योद्धा अभय कैसे हो सकता है ? शस्त्रों का निर्माण भय की प्रतिक्रिया से होता है । अभय व्यक्ति ने कभी शस्त्रों का निर्माण नहीं किया । आदमी को डर लगा, उसने शस्त्रों की शरण ली । शस्त्र-निर्माण होने लगा । पहले पत्थर के शस्त्र बनाए तो वे भी डरकर ही बनाए गए थे । फिर लोहे के शस्त्र बनाए तो वे भी भय की ही प्रतिक्रिया-स्वरूप थे । फिर अणु-शस्त्रों का निर्माण हुआ । उनके पीछे भी भय ही काम कर रहा था । भय के बिना शस्त्र-निर्माण व्यर्थ है । भय के बिना शस्त्र-निर्माण की बात आदमी को सूझती ही नही । कुत्ते आदि पशुओं का डर लगा तो आदमी ने लाठी का सहारा लिया । चोरो का भय लगा तो उसने बंदूक और तलवार का सहारा लिया । इसी प्रकार बडे भय के लिए बड़े शस्त्रों का सहारा लेना पड़ा । एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलेगा कि डर न हो और आदमी शस्त्रों का भार ढोता फिरे ।

सैनिक जीवन मे जूझता है, मौत के सामने खडा रहता है, फिर भी अभय नही है, अभयाभास है । क्योंकि वह शस्त्रों की छत्रछाया मे रहता है । आभास होता है कि वह अभय है, पर वास्तव मे वह अभय नहीं है, भीरु है । इसे और स्पष्ट समझें । जो व्यक्ति लडने के लिए जाता है, वह दूसरे को शत्रु मानता है । शत्रु बनाने का मतलब ही है भय का बीज वपन । जिसने शत्रु बनाया, उसके मन मे भय घुस गया । मन मे भय था इसीलिए उसने दूसरे को शत्रु माना, दूसरे को शत्रु बनाया । दूसरे को शत्रु बनाया इसीलिए उसके मन का भय बढ गया, भय स्थिर हो गया । जो दूसरे को शत्रु मानता है वह कभी अभय नहीं हो सकता । जो अपनी सुरक्षा के लिए शस्त्रो का अंबार लगाता है वह कभी अभय नहीं हो सकता । जिस मरने की भावना के पीछे आवेश और उत्तेजना है, वह कभी शात नही हो सकता । जो शांत होता है वह कभी लडाई नही कर सकता । जो अशांत होकर अभय का प्रदर्शन करता है वह यथार्थ मे अभय नही हो सकता । यह उत्तेजनाजनित अभय अभय का भ्रम पैदा करता है, किंतु वास्तव मे वह अभय नही है । अभय वही व्यक्ति हो सकता है जो शरीर की आसक्ति को तोड चुका है, छोड़ चुका है । जिसका कायाभिमान छूट गया, उसे दुनिया मे कोई भयभीत नहीं कर सकता ।

कायोत्सर्ग की पहली निष्पत्ति है—अभय का घटित होना। जब अभय होता है तब शांति प्रस्फुटित होती है। अशांति के पीछे बहुत बड़ा कारण होता है भय का। भय से जितना तनाव पैदा होता है उतना तनाव और किसी भी वस्तु से नहीं होता।

मनुष्य में परिग्रह की मूर्च्छा होती है। किंतु इस परिग्रह की मूर्च्छा के साथ भय जुड़ा हुआ होता है। आदमी इसीलिए परिग्रह का संचयन करता है कि वह बीमार होने पर काम आ सके। वह सोचता है—परिग्रह का संचय नहीं करूंगा तो बुढ़ापे में क्या गति होगी? इस भय से वह परिग्रह का संचय करता है। 'मैं बड़ा आदमी नहीं बनूंगा, धनवान नहीं बनूंगा और दूसरे बन जाएंगे तो मेरी क्या स्थिति होगी'—इस विचारधारा में भय ही काम करता है। अर्जन के साथ भय जुड़ा हुआ है और संरक्षण के साथ भी भय जुड़ा हुआ है।

शरीर भी परिग्रह है। संस्कार भी परिग्रह है। धन भी परिग्रह है। परिग्रह के साथ भय जुड़ा हुआ है। वह कभी नहीं छूटता।

एक धनाढ्य सेठ था। उसे अपनी कन्या का विवाह करना था। वह विषकन्या थी। कोई भी आदमी उससे विवाह करता तो वह दूसरे ही दिन भाग जाता। आदमी धन के लालच से विवाह तो कर लेता किंतु वह कन्या से संपर्क नहीं कर पाता, क्योंकि उस कन्या का स्पर्श अग्नि जैसा था और हर कोई उस स्पर्श को सहन नहीं कर पाता था। सेठ ने सोचा—अच्छा आदमी इस कन्या से विवाह नहीं करेगा। संभव है भिखारी धन के लालच से विवाह कर ले। एक दिन उसने अपने कर्मचारियों से कहा—"किसी भिखारी को ले आओ, कन्या का विवाह करना है।" भिखारी लाया गया। उसे स्नान कराकर अच्छे कपड़े पहनाये, अलंकार धारण करवाये। सब कुछ किया। धन का प्रलोभन दिया। उसके हाथ मे जो भीख मागने का खप्पर था, उसे छीनकर कर्मचारी बाहर फेंकने लगे। यह देखकर भिखारी चिल्ला उठा। उसने कहा—"मेरा खप्पर जा रहा है। मैं इस खप्पर के साथ इतने वर्षों तक जीया, आज यह मेरे से बिछुड़ रहा है।" भिखारी के साथ खप्पर का जो संस्कार जुड़ा हुआ था, वह एक साथ कैसे छूटता? उसके सामने धन का अंबार लगा हुआ था। उसके सामने उस तुच्छ खप्पर का मूल्य ही क्या था? किंतु खप्पर के संस्कार को तोड़ना उसके वश की बात नहीं थी। वह रोने लगा। वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा—"मेरा खप्पर छूट रहा है, मेरे से बिछुड़ रहा है।" सेठ ने अपने कर्मचारियों से कहा—"ऐसा मत करो। खप्पर को मत फेंको। यह इसी के पास रहने दो।" कर्मचारियों ने खप्पर उस भिखारी के पास रख दिया। खप्पर को पाकर वह स्वस्थ और शांत हो गया। उसे ऐसा लगा मानो सब कुछ पा लिया हो। उस भिखारी में यह भय था कि खप्पर छूट जाने पर कल क्या होगा?

कोई भी आदमी पदार्थ के साथ जुड़े हुए भय को तब तक नहीं तोड़ सकता जब तक कि वह पदार्थ को नहीं छोड़ देता। जब तक पदार्थ की मूर्च्छा नहीं टूटती, संस्कारों की मूर्च्छा नहीं टूटती, शरीर की मूर्च्छा नहीं टूटती, तब तक भय को नहीं तोड़ा जा सकता, कभी नहीं मिटाया जा सकता।

मनुष्य के मन में एक तनाव के बाद दूसरा तनाव उत्पन्न होता रहता है। भय की मूर्च्छा टूटते ही तनाव समाप्त होने लग जाते हैं, शांति उतर आती है। जब शांति उतर आती है तब दुःख-मुक्ति की भावना जागृत होती है। तनाव में आदमी की भावना दुःख-मुक्ति की नहीं होती। तनाव तनाव को पकड़ता है। आकाश-मंडल मे सब प्रकार की ऊर्जाएं फैली हुई है। प्रत्येक ऊर्जा अपनी सजातीय ऊर्जा को खींचती है, पकड़ती है। तनाव से तनाव पकड़े जाते हैं। मन में इतने तनाव भर जाते है कि अब पागलपन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बचता। जब तक तनावों का विसर्जन नहीं होता तब तक मानसिक ग्रंथियों का विकास नहीं होता। हज़ारों उपदेश बेकार चले जाते हैं। उनका कोई असर नहीं होता। जब तक सारा मस्तिष्क, समूचा स्नायु-संस्थान, समूचा मन और शरीर—ये सब तनावों से भरे हुए हैं, ग्रंथियों से भरे हुए हैं तब रिक्त स्थान कहां है जहां उपदेश जाकर टिक सकें। तनाव में कोई उपदेश नहीं समा सकता। इसकी पहले चिकित्सा होनी चाहिए। तनाव-विसर्जन की चिकित्सा के साधन है—मानसिक प्रयोग, ध्यान, प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा और भावना। उनके द्वारा सबसे पहले तनावों को बाहर निकालें, फिर कोई बात भीतर ले जाएं। वह बात भीतर जम जाएगी। आप तनावों की ग्रंथियों को न खोलें और उपदेश का अंबार भी लगा ले तो भी वे व्यर्थ होंगे। वे लौटकर आपके ही पास आयेंगे, भीतर तक नहीं बैठ पायेंगे। उन उपदेशों का कोई दोष भी नहीं है, क्योंकि तनाव उनको स्वीकार ही नहीं करते, उनको भीतर जाने नहीं देते।

जब शांति आती है तब तनाव टूटने लगते हैं, कम होने लगते है। तनाव कम होते ही दुःख-मुक्ति की भावना प्रबल हो उठती है। यह कायोत्सर्ग की तीसरी निष्पत्ति है। तब साधक छटपटा उठता है कि दुःखों से छुटकारा कैसे मिले? दुःख-मुक्ति कैसे हो? जब यह भावना प्रबल होती है तब पदार्थ के प्रति सारा दृष्टिकोण ही बदल जाता है। पदार्थ के प्रति पलने वाली आसक्ति टूटने लगती है। वह एक साथ नहीं टूटती, दृष्टिकोण बदलते ही शरीर की आज्ञाओं का पालन करने की भावना नहीं होती, किंतु शरीर के साथ एक समझौता हो जाता है।

महावीर ने दीक्षित होते ही सबसे पहले यह संकल्प किया था, "आज से मैं शरीर को छोड़ रहा हूं। मैं उसकी कोई सार-संभाल नहीं करूंगा।" फिर उन्होंने शरीर के साथ समझौता किया कि "शरीर मुझे साधना में सहयोग दे रहा है तो मैं भी उसका निर्वाह करूंगा।" समझौता हो गया। अब शरीर वह नहीं रहा कि

वह हुकूमत चलाता रहे। जैसे-जैसे शरीर के कार्य हमारे सामने आते गये और हम उनकी नौकरी करते ही चले जाएं। महावीर ने यह नौकरी करनी बंद कर दी। उन्होंने सोचा—कांटा चुभे तो चुभे, मैं उसे नहीं निकालूंगा। शरीर पर कुछ भी पड़े, मैं नहीं पोंछूंगा। उन्होंने शरीर की सारी नौकरी बंद कर दी। वे ठीक इस समझौते के साथ चले कि तुम मेरा सहयोग करो, मैं तुम्हारा निर्वाह करूंगा। इससे आगे तुम मेरे से आशा मत रखो। यह निर्वेद जाग जाता है। उसमें यह निर्वेद प्रकट होता है तब वह शरीर की अधीनता को समाप्त कर समझौते के साथ चलता है। जिस व्यक्ति में अभय, शांति, दुःख-मुक्ति की जिज्ञासा और दुःख-मुक्ति के लिए अनासक्ति का भाव जाग जाता है, वह मृदु हो जाता है। उसमें कोई कठोरता नहीं होती। उसमें अनन्त करुणा, अनन्त मैत्री का स्रोत उमड़ पड़ता है। कठोरता तब तक जागृत रहती है जब तक व्यक्ति को यह अनुभव नहीं होता कि दुःख हेय है। जब व्यक्ति दुःख के प्रति जागृत हो जाता है, दुःख से छुटकारा पाने के लिए तड़फ उठता है तब वह इतना मृदु हो जाता है कि वह न स्वयं दुःख को आमंत्रित करता है और न दूसरों पर दुःख को आरोपित करता है। उसमें अनन्त करुणा का भाव जाग जाता है। जब इतना होता है तब उसकी सत्यनिष्ठा प्रकट होती है। कोई भी संदेह नहीं रहता उसकी सत्यनिष्ठा में। वह इतना सत्यनिष्ठ हो जाता है कि वह सत्य के लिए ही जीता है, और किसी के लिए नहीं जीता। जो कुछ करता है वह सब सत्य के लिए करता है। श्वास लेता है तो सत्य के लिए लेता है और श्वास छोडता है तो सत्य के लिए छोड़ता है। अन्न खाता है तो सत्य के लिए खाता है और अन्न छोड़ता है तो सत्य के लिए छोड़ता है। प्राण धारण करता है तो सत्य के लिए करता है और प्राणों की बलि देनी होती है तो सत्य के लिए प्राण-बलि देता है। ऐसे व्यक्ति के लिए कुछ भी असंभव नहीं रहता। ये सारी निष्पत्तियां कायोत्सर्ग से सधती हैं।

जिस व्यक्ति की अंतर्दृष्टि जाग जाती है, जिसका कायोत्सर्ग सध जाता है उसमें नयी-नयी दिशाएं उद्घाटित होती हैं, नये-नये आयाम खुलते हैं, उसका सारा जीवन बदल जाता है। चिंतन की धारा मे परिवर्तन आ जाता है। चिंतन स्वस्थ हो जाता है। मूढ़ता की अवस्था में चिंतन स्वस्थ नहीं रहता। अंतर्दृष्टि की अवस्था मे चिंतन अस्वस्थ नहीं रह सकता, स्वस्थ हो जाता है। जो चिंतन मोह से स्फूर्त होता है वह कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। अस्वस्थ चिंतन से शरीर और मन—दोनों अस्वस्थ हो जाते हैं। स्वस्थ चिंतन से शरीर और मन—दोनों स्वस्थ होते हैं।

स्वस्थ चिंतन का पहला सूत्र है—अन्यत्व की अनुप्रेक्षा। इससे जो आज तक उपलब्ध नहीं हुआ था वह उपलब्ध हो जाता है। 'मैं शरीर से भिन्न हूं और शरीर मुझसे भिन्न है'—यह अन्यत्व भावना, अनुप्रेक्षा जाग जाती है। और जैसे-

जैसे अन्यत्व की भावना पुष्ट होती चली जाती है वैसे-वैसे आत्मा का ज्ञान, आत्मा का प्रकाश हजारों-हजारों रश्मियों को फैलाता रहता है और मोह का अंधकार विलीन होता चला जाता है। अन्यत्व की भावना के जागरण के साथ अनेक ग्रंथियां खुल जाती है। शरीर को अपना मानकर जितने तनाव पैदा किये थे, जितनी ग्रंथियों का पात हुआ था, वे सारे तनाव मिट जाते हैं, वे सारी ग्रंथियां खुल जाती हैं।

शरीर में बीमारी हुई, आदमी रोने लग जाता है। शरीर को थोड़ा-सा कष्ट हुआ, आदमी दीन बन जाता है। आप सोचते होंगे कि कष्ट के कारण ऐसा होता है। यह सच नहीं है। कष्ट के कारण ऐसा नही होगा। यह होता है ग्रंथियों के कारण, संस्कार के कारण। हमारा देहाभिमान इतना पुष्ट है कि हमने मान लिया कि शरीर को कुछ भी कष्ट नही होना चाहिए। इस मान्यता के कारण ही यह सब होता है। जिन व्यक्तियों ने इस मान्यता को तोड दिया, देहाभिमान के टुकड़े-टुकड़े कर दिये, हजारों कष्टो के आने पर भी उनकी मधुर मुसकान को कभी नहीं मिटाया जा सकता। उनके चेहरे पर कभी दीनता का भाव नही उभरता। वे कभी खिन्न नही बनते। वे बहुत बडी शारीरिक वेदना के होने पर भी उसकी अवज्ञा कर देते है, उस ओर ध्यान ही नहीं देते। शरीर को कष्ट होता है, इसलिए आदमी नही रोता। किंतु मेरे शरीर को कष्ट नही होना चाहिए, यह मान्यता उसे रुलाती है। इसी मान्यता के कारण आदमी रोता है। जब अन्यत्व-भावना पुष्ट हो जाती है तब 'मेरे शरीर को कष्ट नही होना चाहिए'—यह ग्रंथि खुल जाती है, ग्रंथि समाप्त हो जाती है। फिर कष्ट होता है तो वह द्रष्टा की भांति देखता है कि शरीर में कुछ हो रहा है। कुछ घटना घटित हो रही है। वह केवल द्रष्टा होता है, संवेदक नही।

एक व्यक्ति आया। वह ध्यान का अभ्यास कर रहा था। मैंने पूछा—"ध्यान का क्रम चल रहा है?" उसने कहा—"दर्द हो रहा था, इसलिए अभी बंद कर रखा है।" मैंने कहा—"जहां दर्द है, उसी पर ध्यान करो। उस दर्द पर ही मन को एकाग्र कर दो।" उसने वैसा ही किया। पाच-दस दिन तक क्रम चला। जैसे-जैसे ध्यान करता गया, कष्ट का भान ही समाप्त हो गया।

दर्द किसको होता है, आत्मा को या शरीर को? आत्मा को कोई दर्द नहीं होता। हमने अपनी सारी चेतना को दर्द के साथ जोड रखा है और इस मान्यता के आधार पर जोड रखा है कि यह दर्द मुझे हो रहा है। तब आपको यह सारा दर्द हो रहा है। यदि भेद-ज्ञान स्पष्ट हो जाए, अन्यत्व का चिंतन स्पष्ट हो जाए तो हम स्वास्थ्य के एक ऐसे वातायन मे जाकर बैठेंगे जहां से द्रष्टा की भांति देख सकेंगे कि यह रहा दर्द और यह रहा मैं। यह रहा पथिक और यह रहा मैं। जैसे

वातायन पर बैठा आदमी रास्ते चलते आदमी को देखता है, वैसे ही वह कष्ट को अलग देखेगा और अपने को अलग देखेगा। अन्यत्व भावना के विकसित होने पर यह स्थिति बनती है। मैं कोई तत्त्वचिंतन की बात नहीं कर रहा हूं। यदि यह तत्त्व-चिंतन की बात होती तो मेरी बात का प्रतिपक्ष भी होता, मेरे तर्क का प्रतितर्क भी होता, मेरी उक्ति की प्रत्युक्ति भी होती। किंतु यह सारी साधना की बात है। हर व्यक्ति को अनुभव करने की बात कह रहा हूं। मेरा अनुभव आपके काम नहीं आ सकता और आपका अनुभव मेरे काम नहीं आ सकता। आपका तर्क मेरे काम आ सकता है और मेरा तर्क आपके काम आ सकता है। ऐसा हुआ भी है। दर्शन-शास्त्र और तर्कशास्त्र के हज़ारों ग्रंथ रचे गये; किसी एक दर्शनशास्त्री ने अच्छा तर्क प्रस्तुत किया तो आने वाले विद्वानों ने उस तर्क को अपना लिया और उसे दोहराते गये। एक का तर्क दूसरे के काम आ जाता है, एक की उक्ति दूसरे के काम आ जाती है। किंतु अनुभव किसी के काम नहीं आता। प्रत्येक का अनुभव अपना-अपना होता है। यह सारी अनुभव की बात है। साधक भेदज्ञान को प्राप्त करे, विवेक-चेतना का जागरण करे, आत्मा की भूमिका पर आकर आत्मा और शरीर के अन्यत्व अनुप्रेक्षा की बात करे, कायोत्सर्ग की साधना करे। उस भूमिका पर पहुचकर वह यह अनुभव करे कि ऐसा हो सकता है या नहीं। यदि तर्क की भूमिका पर इसे परखने का प्रयत्न होगा, शल्य-चिकित्सा होगी तो तर्क ही हाथ लगेगा, अनुभव प्राप्त नहीं होगा। इतना हो सकता है कि आप मेरी कही हुई बातों का खंडन कर सकेंगे। ऐसा लगेगा कि मेरी कही हुई बातें अस्वाभाविक है। मैं आपको सावधान किये देता हूं कि आप इन बातों को तर्क की दृष्टि से न देखें, साधना की दृष्टि और अनुभव की दृष्टि से देखे।

जिसने कायोत्सर्ग किया उसने साधना की भूमिका पर आकर ही किया। जिसकी अंतर्दृष्टि खुली, वह साधना की भूमिका पर ही खुली। उसने साधना के द्वारा ही यह समझा कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। तर्क के द्वारा समझा हुआ व्यक्ति इस भूमिका पर नहीं पहुंच सकता।

दो बातें है—एक है शैक्षणीय और एक है साक्षात् करणीय। शैक्षणीय बाते आगम से, शास्त्र से, गुरुमुख से या परम्परा से सीखी जाती है। बहुत से लोगों ने 'आत्मान्य: पुद्गलश्चान्य:'— आत्मा अन्य है और पुद्गल अन्य है—इसे रट रखा है। किंतु जब उनका शरीर कष्टों से आक्रांत होता है तब वे इस सिद्धांत को बिलकुल भूल जाते हैं। ऐसी स्थिति में वह सिद्धांत विफल हो जाता है। यह तो विफल होगा ही। उसने तो केवल यह सिद्धांत रट रखा है, इसे केवल शैक्षणीय मान रखा है। इसकी एक सीमा होती है। पहले-पहल कोई बात शैक्षणीय होती है, मान ली जाती है, उधार ली जाती है। किंतु उधार को सदा उधार ही बनाये रखें,

यह नहीं होना चाहिए। उधार को चुकाना पड़ता है, अपना कुछ अर्जित करना पड़ता है। हम शैक्षणीय को साक्षात्करणीय बनायें। हम उसे अनुभव में उतारें कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। ऐसा होने पर ही यथार्थ घटनाएं घटित होने लगेंगी।

अन्तर्दृष्टि (३)

जब अंतर्दृष्टि जागती है तब नयी ज्योति मिलती है; ज्योति की अनेक रश्मियां चारों ओर फूट पड़ती हैं। मनुष्य आलोक से भर जाता है। अंधकार के सारे बिम्ब समाप्त हो जाते हैं। उस व्यक्ति को कोई समस्या प्रतीत नहीं होती, कोई उलझन प्रतीत नहीं होती। वह सर्वत्र समाधान ही समाधान देखता है। जहां दूसरा मनुष्य अपने को समस्याओं से घिरा पाता है वहां ज्योतिर्मान् मनुष्य अपने को समाधान से संकुल पाता है। जब आत्मा और शरीर का भेद स्पष्ट हो जाता है, अन्यत्व की अनुप्रेक्षा अनुभव में उतर आती है तब पहली बार उसे अनुभव होता है कि 'मैं अकेला हूं।' एकत्व की अनुप्रेक्षा, एकत्व का चिंतन फूट पड़ता है। वह सोचता है—'मैं अकेला हूं। जब शरीर भी मेरा नहीं है तब दूसरा फिर मेरा कौन होगा? मैंने जिसे स्वजन मान रखा है, वह मेरा कैसे होगा? यह दूर की बात है। मेरे सबसे निकट है—शरीर। जब शरीर भी मेरा नहीं है तब वह (स्वजन) मेरा कैसे होगा? वह स्व कैसे होगा? वह भी तो पराया ही है।' जब परत्व की बुद्धि जागी तो एक भ्रम और भाग गया। जिसको स्व माना था उसके प्रति राग संचित कर रखा था और जिसे स्व नहीं माना, पर माना, उसके प्रति द्वेष संचित कर रखा था। पराए के प्रति कोई राग नहीं होता। जो अपना है, उसके प्रति राग होता है। स्व और पर की जो मान्यता बना रखी थी वह भ्रम भी टूट गया। अब स्पष्ट बोध हो गया कि कोई 'स्व' नहीं है। जब शरीर भी 'स्व' नहीं है तो दूसरा पदार्थ 'स्व' कैसे होगा? जब कोई भी 'स्व' नहीं है तो कोई 'पर' कैसे होगा? यह 'स्व' और 'पर' की रेखा ही समाप्त हो जाती है। अर्थात् सब कुछ 'पर' ही पर है, 'स्व' कुछ है ही नहीं। और यह भाषा भी समाप्त हो जाती है कि 'पर' कुछ है ही नहीं। जब 'स्व' ही नहीं है तो 'पर' कैसे होगा? कोई 'स्व' हो तो किसी को 'पर' माना जाए। कोई अपना हो तो दूसरे को पराया माना

जाए। 'स्व' और 'पर' का चिंतन ही समाप्त हो जाता है। अकेला, केवल अकेला। वह अपने आपको केवल अकेला ही देखता है।

जब एकत्व की अनुप्रेक्षा, एकत्व का अनुचिंतन स्थिर होता है, पुष्ट होता है, तब नया चिंतन उभरता है—मैं अकेला हूं। शरीर मेरा नहीं है। कोई भी पदार्थ मेरा नही है। कोई भी व्यक्ति मेरा नही है। सब कुछ अनित्य है। यह सारा संयोग है। शरीर के साथ चैतन्य का संयोग है। शरीर के साथ दूसरे पदार्थों का संयोग है, दूसरे व्यक्तियों का संयोग है। वह भी अनन्तर नहीं, परंपर। अव्यवहित नही, व्यवहित। बीच मे व्यवधान है। चैतन्य के बीच में है शरीर और शरीर के बाद है कोई व्यक्ति या पदार्थ। यह सब योग है। जहां योग है वहां वियोग है। जो योग है वह निश्चित ही अनित्य है। योग कभी नित्य नहीं हो सकता। अनित्य की अनुप्रेक्षा स्पष्ट होती है, तब अनित्य भी अनुभव बन जाता है। जब अनित्य अनुभव बन जाता है तब उसमे से आलोक की एक और किरण निकलती है।

मनुष्य ने पहले मान रखा था कि पदार्थ कभी काम आयेगा, शरण देगा, त्राण देगा। मनुष्य ने मान रखा था कि परिवार त्राण देगा। मित्र त्राण देगा। अब वह सोचता है—'ये सब स्वयं अनित्य है। ये सब मेरे जैसे है, स्वयं अत्राण है। फिर भला मुझे कैसे त्राण देंगे?' यह त्राण की भ्रांति टूट जाती है। शरण की भ्रांति टूट जाती है। इससे अशरण का चिंतन स्पष्ट हो जाता है। अन्यत्व से एकत्व, एकत्व से अनित्यत्व और अनित्यत्व मे अशरणत्व—यह बोध स्पष्ट हो जाता है। एक के बाद दूसरी सचाई उभरती है और सारी भ्रांतिया टूट जाती है। वह अपने आप को पाता है कि मैं अकेला हू, कोई भी मेरा नहीं है। जितने योग है, जो कुछ मुझे प्राप्त है, वह सारा अनित्य है, अशाश्वत है। चारों ओर अत्राण ही अत्राण है। कोई त्राण देने वाला नही है। इस सचाई के प्रकट होने पर आदमी बिलकुल बदल जाता है। उसे चारो ओर असत्य ही असत्य दिखायी देता है।

आप सोच सकते है कि यह सब अव्यावहारिक बातें है। इस चिंतन से क्या कोई परिवार चलेगा? क्या कोई समाज चलेगा? क्या कोई देश या राष्ट्र चलेगा? यदि सब आदमी अपने को अकेले ही अकेले अनुभव करे तो क्या समुदाय बन पायेगा? क्या कोई समष्टिगत कार्य हो सकेगा? क्या कोई शक्ति का निर्माण हो पायेगा? शक्ति का निर्माण तब होता है जब दो मिलते हैं, दो का योग होता है। योग होता है तब मकान बनता है। योग होता है तब वस्त्र बनता है। एक अकेला तंतु वस्त्र नही बनता। वह नग्नता को ढांकने में समर्थ नही होता। न वह सर्दी और गर्मी से बचाने मे सक्षम होता है अकेले तंतु की कोई कीमत नहीं होती। जब तंतु मिलते है, उनका परस्पर योग होता है तब वस्त्र बनता है जो नग्नता को ढांकने मे, सर्दी और गर्मी से बचाने में सक्षम होता है। जहां संगठन होता है, मिलन होता है, समुदाय बनता है, वहां शक्ति पैदा होती है। समाज की सारी

शक्ति समुदाय पर निर्भर होती है। समुदाय होते ही शक्ति पैदा हो जाती है। अकेले में कुछ नहीं होता।

व्यवहार के धरातल पर यह चिंतन उभरता है और ऐसा लगता है कि अकेलेपन की बात सर्वथा अव्यावहारिक और असामाजिक है। ऐसा लग सकता है। व्यवहार का अर्थ ही होता है—स्थूल। जब व्यक्ति स्थूल भूमिका पर खड़ा रहकर सोचता है तब वह ऐसा ही सोच पाता है। ऐसा सोचना, उस भूमिका की दृष्टि से, त्रुटिपूर्ण नहीं है। यह सच है कि एक ईंट से कभी मकान नहीं बनता। यह कहावत भी सच है कि ईंट से ईंट बजती है। जहां दो मिलते हैं वहां शक्ति पैदा होती है। जहां दो मिलते हैं वहीं संघर्ष पैदा होता है, चिनगारियां उछलती हैं। दो होने के साथ विशेषताएं भी है और दो होने के साथ कठिनाइयां और समस्याएं भी हैं। अकेले आदमी ने कभी लडाई की हो, ऐसा नहीं मिलता। इसी प्रकार दो साथ रहे हों और लडाई न की हो, ऐसा भी कहीं नहीं मिलता। दो में कभी न कभी टकराहट हो ही जाती है। निरंतर साथ रहने वाले पिता-पुत्र, पति-पत्नी भी बिना टकराहट के नहीं रह पाते। प्रतिबिंब से भी टकराहट हो जाती है। चिडिया कांच पर बैठती है और अपने ही प्रतिबिंब से लडने लग जाती है। वह प्रतिबिंबित चिडिया के चोंच मारती जाती है, जब तक कि उसकी चोंच घायल नहीं हो जाती। शेर ने पानी मे अपना प्रतिबिंब देखा और उसे मारने के लिए दौडा। वह पानी मे डूबकर मर गया, अपने प्राण न्योछावर कर दिये किंतु वह बिना टकराहट के नही रह सका। जब प्रतिबिंब से भी टकराहट हो जाती है तो साक्षात् मे बिना टकराहट के रहना असंभव-सा हो जाता है।

उपनिषद्‌कार कहते है—'द्वितीयाद् वै भयम्।' जब दूसरा होता है तब भय उत्पन्न होता है। जब दूसरा होता है तब कार्य में बाधा आती है, स्वतंत्रता खडित हो जाती है। अकेले में व्यक्ति जो कुछ चाहे कर सकता है, किंतु जब दूसरे के आने की आशंका होती है तब वह सावधान हो जाता है। मनचाहा कर नही सकता। इस प्रकार दूसरा होता है तब आशंका उत्पन्न होती है, भय होता है, संघर्ष होता है। इस पहलू को ध्यान मे रखना है। अकेला होना अस्वाभाविक नही है, असामाजिक नही है। जो व्यक्ति समाज मे रहता हुआ भी अपने-आपको अकेला अनुभव करता है वह हजारों समस्याओं से बच जाता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—'गण मे रहूं निरदावै अकेलो'—मैं संघ मे रहकर भी अकेला रहूंगा। यह साधना का मूल्यवान सूत्र है। व्यक्ति ने मान लिया कि यह मेरा है, किंतु जब उससे अपनी भावना की पूर्ति नहीं होती तब वह सिरदर्द बन जाता है। वेदना होती है, पीडा होती है। अगर किसी को अपना नहीं माना, फिर चाहे वह गाली भी देता है तो कोई वेदना नहीं होती, कष्ट नहीं होता। जिसे अपना मान लिया वह यदि थोड़ी-सी भी चुभती बात कहता है तो भयंकर वेदना होती है, समस्या

उभर आती है। जो मेरेपन से जितना अधिक निकट होता है उसकी बात ज्यादा चुभती है। पड़ोसी ने कहना नहीं माना तो व्यक्ति को इतनी वेदना नहीं होती। बेटे ने बात नहीं मानी, पत्नी ने बात नहीं मानी तो मन अत्यधिक दुःखी हो जाता है, तीव्र वेदना पैदा हो जाती है। चिंतन आता है कि मैंने इसे पाला-पोसा, मैंने इसके सुख-दुःख में साथ दिया, और वही मेरी बात को मानने से इनकार हो गया। बस, उसकी सारी उत्तेजनाएं एक साथ घनीभूत हो जाती हैं। जहां व्यक्ति ने दूसरों में अपनत्व का आरोपण किया उसने हजारों समस्याओं को जन्म दे डाला। दोनों बातें मानकर चलें—सचाई को सचाई मानें और व्यवहार को व्यवहार मानें। समाज में यदि जीना है तो समाज के व्यवहार को भी निभाना होगा। किंतु उस व्यवहार की ओट में छिपी हुई वास्तविकता को कभी नहीं भुलाना चाहिए। 'मैं अकेला हूं'—यह एक सचाई है। 'मैं एक सामाजिक प्राणी हूं'—यह हमारा व्यवहार है, अपेक्षा है, सापेक्षता है। सापेक्षता सचाई नहीं है, फिर भी सामाजिक प्राणी को उसे स्वीकार करना होता है। सचाई केवल यही है—मैं अकेला हूं। जो व्यक्ति इन दोनों बातों को मानकर चलता है, उससे समाज का व्यवहार भी नहीं टूटता और वह अपने आपको हजारों समस्याओं से उबार भी लेता है। जो व्यक्ति शाश्वत को विस्मृत कर, अशाश्वत को शाश्वत जैसा मान लेता है, उसे बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। संयोग को उसने शाश्वत मान लिया। मूर्च्छा इतनी घनीभूत हो गई कि उसने अशाश्वत में शाश्वत का आरोपण कर डाला। चाहे पदार्थ हो या व्यक्ति, उसने सबको शाश्वत मान लिया। संसार का यह सार्वभौम नियम है कि योग का वियोग होता है। अनचाहे भी वियोग होता है। जब वियोग होता है तब वेदना होती है। कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनमें मूर्च्छा इतनी प्रगाढ़ होती है कि पदार्थ के चले जाने पर वे वर्षों तक रोते रहते हैं, शोक करते है। यह सारा होता है अशाश्वत को शाश्वत मान लेने के कारण। उस व्यक्ति ने एक भ्रान्ति को पाल रखा है और इसीलिए वह वेदना का अनुभव करता है। वह सारा भ्रान्ति-जनित कष्ट है। जो असत्य उसने पाल रखा है, उसकी पुष्टि के लिए सारा हो रहा है। यदि सचाई का बोध स्पष्ट हो, यदि सचाई की अनुभूति स्पष्ट हो तो वह कभी ऐसा नहीं कर सकता। उसका चिंतन होगा—संसार का जो सार्वभौम नियम है उसे बदला नहीं जा सकता, टाला नहीं जा सकता। मनुष्य अत्राण को त्राण मान लेता है और जब उससे त्राण नहीं मिलता तब बेचैनी पैदा होती है।

दो व्यक्तियों को जोड़ने वाला सूत्र है—स्वार्थ। एक का दूसरे से हित सधता है, एक दूसरे के काम आता है, तब तक एक दूसरे को त्राण मान लेता है। स्वार्थ का धागा जब टूट जाता है, तब वह सोचता है—'अरे! यह क्या! मैंने उसे त्राण मान रखा था, एक सहारा मान रखा था, आलंबन मान रखा था, वह मेरे

से सर्वथा अलग हो गया।' ऐसा सोचते ही वह वेदना का अनुभव करने लग जाता है। यदि प्रारंभ से ही यह सचाई स्पष्ट हो कि संसार में कोई किसी का त्राण नहीं होता तो फिर कष्ट की अनुभूति नहीं होती।

त्राण अपने आप में है। अपने पास अपना साथी है—चैतन्य। यदि हम अकेले रहें और अपने साथी को न भूलें, अपने त्राण में रहें, अपनी शरण में रहें तो मानसिक विकृतियां कम हो जाती हैं। बहुत सारी पीड़ा जो व्यर्थ ही भोगनी पड़ती है, वह समाप्त हो जाती है। किन्तु यह कोई तत्त्वज्ञान की बात नहीं है, केवल जानने की बात नहीं है, यह अनुभव मे उतारने की बात है। यदि हम केवल जान लें कि मैं अकेला हूं, सब कुछ अनित्य है, कोई त्राण नही है तो इससे कुछ भी घटित नहीं होगा, समस्याओं से छुटकारा नहीं मिल पाएगा, कठिनाइयां कम नहीं होंगी। जब हम इन सारी बातों को साधना के द्वारा अनुभव में अवतरित कर देते हैं, तब हम व्यर्थ की पीडा से बच जाते हैं।

महावीर ने छह महीने तक अनित्य अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया था। अकेले व्यक्ति को यदि तीन महीने तक एक कोठरी में बंद कर दे और वह यह सोचता रहे कि 'मैं अकेला हूं' तो तीन महीने के बाद जब वह बाहर आएगा तो वह इतना बदल जाएगा कि बाहर की दुनिया उसे झूठी प्रतीत होने लगेगी। वह सोचेगा—सब कुछ झूठ ही झूठ है। जो लोग अपने संबंधों की चर्चा करते है, वह सब असत्य है। संसार मे होने वाले संबंध सत्य नहीं हैं, सत्य है अकेलापन।

इस प्रकार जो व्यक्ति तीन या छह महीने तक अन्यत्व, एकत्व, अनित्यत्व, अशरणता आदि का अभ्यास कर लेता है, वह मानसिक विकृतियों से मुक्त होकर स्वस्थ चिंतन करने वाला, स्वस्थ व्यक्तित्व वाला बन जाता है।

किंतु साधना के बिना ऐसा हो नहीं सकता। व्यक्ति चाहे हज़ार बार अन्यत्व की बात सुने या हज़ार बार उनकी रटन लगाए, बिना अभ्यास के वह घटित नहीं होगा जो घटित होना चाहिए। एक संस्कार को मिटाने के लिए दूसरे संस्कार का निर्माण जरूरी होता है। नौका तभी छूटती है जब व्यक्ति तट पर पहुंच जाता है। तट पर पहुंचे बिना नौका नही छोड़ी जा सकती। सभी दुःखों से मुक्त होने के लिए शरीर को छोड़ना होता है, किंतु जब तक आत्मा का पूरा प्रकाश उपलब्ध नहीं हो जाता तब तक शरीर को भी नहीं छोडा जा सकता। जब तक मिथ्या संस्कार समाप्त न हो जाएं तब तक अच्छे संस्कारो को नहीं छोड़ा जा सकता। भ्रांतियों के जाल को समाप्त करने के लिए कुछ व्यवहृत सचाइयों का सहारा लेना ही पड़ता है।

जब तक अनित्यता, एकत्व या अशरणता संस्कार नहीं बन जाता तब तक मानसिक विकृतियों से छुटकारा नहीं मिल सकता। इस संस्कार के बनने पर कुछेक विशेष निष्पत्तियां होंगी। जब ये संस्कार पुष्ट हो जाएंगे तब मस्तिष्क की

एक दिशागामी ग्रहणशीलता समाप्त हो जाएगी। आज का प्रत्येक प्राणी संक्रमण का जीवन जीता है। वह बाहर के प्रभावों को ग्रहण करता है। इस संक्रमण को नहीं रोका जा सकता। किंतु जो व्यक्ति स्वस्थ चिंतन से अपने आपको कवचित कर लेता है, कवच पहन लेता है, वह बाहरी संक्रमणों और प्रभावों को रोक सकता है। बड़े-बड़े साधक साधना-काल मे नग्न रहकर अनेक प्रकार के शारीरिक कष्टों को सहन करते है। अनेक रोगों के लिए उनका शरीर अनुकूल होता है, फिर भी वे उन रोगों से आक्रांत नहीं होते। प्रश्न होता है, क्यों? इसका समाधान है कि उनके मस्तिष्क और शरीर की ग्रहणशीलता समाप्त हो जाती है। उनका मस्तिष्क रिसेप्टिव नहीं रहता। उनका शरीर भी ग्रहणशील नहीं रहता। वह बाहरी प्रभावों से अपने आपको बचा लेता है। बाहरी प्रभाव और शरीर के बीच मे एक कवच आ जाता है। वे प्रभाव कोई असर पैदा नही कर सकते।

ऐसा व्यक्ति अनावश्यकताओं से सर्वथा मुक्त हो जाता है। उसके जीवन मे केवल आवश्यकताए शेष रहती है। उस व्यक्ति के साथ उसी का सपर्क होगा जो आवश्यक है। मूर्च्छा या मोह पैदा करने वाला या भुलावे में डालने वाला संपर्क नही होगा। वह किसी भी वस्तु को स्वीकार करेगा तो केवल आवश्यकता के लिए स्वीकार करेगा। उसे शाश्वत संयोग मानकर कभी स्वीकार नही करेगा। सयोग उसमे प्रसन्नता पैदा नही करेगा और वियोग उसमे खिन्नता नही लाएगा। वस्तु के प्राप्त होने और चली जाने में कोई फर्क नही होगा। उसमे मात्र आवश्यकता बचेगी, आवश्यकता समाप्त हो जाएगी।

हम प्रतिदिन पाठ करते है—'अरहते सरण पवज्जामि', 'सिद्धे सरण पवज्जामि'— मैं अर्हत् की शरण स्वीकार करता हू। मैं सिद्ध की शरण स्वीकार करता हू। एक ओर हम यह पाठ करते रहते है और दूसरी ओर अशरण की बात करते है। यह विपर्यास क्यो? शरण की बात करना भी एक सचाई है और अशरण की बात करना भी एक सचाई है। यदि हम अरहंत को अपने से भिन्न मानकर उनकी शरण मे जा रहे है तो यह एक बहुत बड़ी भ्राति होगी। हम अरहंत को अपने आत्म-स्वरूप से भिन्न न मानें। हमारा अर्हत् स्वरूप ही हमारे लिए शरण है, और कोई शरण नही हो सकता। न महावीर शरण होगा और न कोई और दूसरा शरण होगा। इसीलिए शरण-सूत्र मे 'अरहंते सरणं पवज्जामि' है किंतु 'महावीर सरणं पवज्जामि' नहीं है। समूचे शरण-सूत्र में शुद्ध आत्म-स्वरूप ही शरण है, कोई व्यक्ति शरण नही है। एक व्यक्ति शरण देने वाला हो और दूसरा शरण मे जानेवाला हो तो शरण देने और लेने वाले का भेद समाप्त ही नही होता। महावीर ने अशरण का सूत्र दिया। उन्होंने किसी को शरण नहीं बतलाया। उन्होंने कहा—"असरणं सरणं मन्नमाणे बाले लुप्पइ"—अशरण को शरण मानने वाला अज्ञानी मनुष्य नष्ट हो जाता है। शरण कोई है ही नहीं। जो

दूसरा है, वह शरण कैसे होगा ? आत्मा का शुद्ध स्वरूप है—अर्हत्। आत्मा का सिद्ध स्वरूप है—सिद्ध। आत्मा का साधक रूप है—साधु। आत्मा का चैतन्यमय रूप है—धर्म। कोई दूसरा शरण नहीं है, अपनी आत्मा ही शरण है। 'नाणं सरणं मे', 'दंसणं सरणं मे', 'चरित्तं सरणं मे'—ज्ञान शरण है, दर्शन शरण है, चारित्र शरण है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र (वीतरागता) की त्रिपुटी है—अर्हत्।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी है—सिद्ध।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी की साधना है—साधु।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी का आचरण है—धर्म।

ये सब आत्मा से भिन्न नहीं है। हम इस भ्रांति को तोड़ दें कि हम किसी दूसरे की शरण मे जा रहे है। हम अपनी ही शरण में जा रहे हैं, अपने अस्तित्व की शरण मे जा रहे है।

जो व्यक्ति इन अनुप्रेक्षाओं का, इन स्वस्थ चिंतनों का अनुसरण करता है वह असामाजिक नही होता, अव्यावहारिक नही होता। व्यवहार में जितना परिष्कार आता है, समाज मे जितना सुधार, क्रांति और भलाई आती है, वह ऐसे व्यक्तियों के द्वारा ही आ सकती है। मूर्च्छा में रहने वाले समाज का सुधार नहीं कर सकते, समाज की भलाई नहीं कर सकते और वे सामाजिक क्रांति भी नहीं कर सकते। वे समाज को उन्नति के शिखर पर नहीं ले जा सकते। वे कैसे ले जाएंगे ? जिस व्यक्ति मे पदार्थ के प्रति सघन मूर्च्छा है, जो पदार्थ को नित्य मानता है, वह पदार्थ के लिए इतने संघर्ष करता है कि वह समूचे समाज को लड़ाई में ढकेल देता है। जिस व्यक्ति मे केवल सामाजिकता का ही संस्कार है, समुदाय का ही संस्कार है, वह समुदाय के साथ इतना अंधा होकर चलता है और यह सोचता है कि जो सब को होगा, वह मुझे होगा। यह सामुदायिकता एक सघन अंधकार मे ले जाने की दिशा बन जाती है। जो व्यक्ति दूसरों में ही अपना त्राण और शरण खोजता है वह अपने आप मे शून्य हो जाता है। वह सोचता है—यह मुझे बचा लेगा। वह दूसरों के पीछे-पीछे चलता है। वह स्वयं कभी अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न नहीं करता। उसे लगता है ये सचाइयां केवल आध्यात्मिक सचाइयां है। यदि ये सचाइयां सामाजिक व्यक्ति में आ जाएं तो समाज का चित्र नया हो जाता है। उसका ऐसा रूप बन जाता है, जैसा कभी नहीं बना था। आध्यात्मिक भूमिका पर जिस समाज की संरचना होगी और इन सचाइयों के आधार पर जिस समाज का ढांचा खड़ा होगा वह समाज सचमुच ही एक क्रांतिकारी, व्यवस्थित, शांतिप्रिय और मैत्री-प्रधान होगा।

एक प्रश्न होता है—हम कैसे जानें कि अंतर्दृष्टि का जागरण हो गया है ?

उसके लक्षण क्या हैं ?

अंतर्दृष्टि का पहला लक्षण है—सम्यग् दर्शन। जिसकी अंतर्दृष्टि जागृत हो गयी, उसका दर्शन सम्यग् हो जाता है। उसका मिथ्या दर्शन समाप्त हो जाता है। सम्यग् दर्शन के प्राप्त होते ही सारी धारणाएं बदल जाती हैं। जब तक मूढ़ता थी तब तक सुख को दुःख और दुःख को सुख मान रखा था। सम्यग् दर्शन होते ही यह भ्रांति मिट जाती है। सुख और दुःख की परिभाषा बदल जाती है। अब वह पदार्थ से होने वाले सुख को सुख नहीं मानता। उसमें उसे दुःख का प्रति-बिंब दीख पड़ता है। वह वास्तव में ही दुःख होता है, सुख नहीं। यदि सुख होता तो जितनी बार उस पदार्थ का उपभोग होता तो वह सुख ही देता, दुःख नहीं। संगीत सुनना सुखदायी माना जाता है। व्यक्ति ज्वर-ग्रस्त है। उसके सामने कितना ही मधुर संगीत क्यों न आए, उससे उसको सुख नहीं होगा, अपितु उसके लिए वह कष्टप्रद ही होगा। सम्यग् दर्शन के पश्चात् वह व्यक्ति सुख की गहराई में जाकर यह समझ पाता है कि सुख वह है जहां दुःख का संस्कार समाप्त हो जाए। सुख वह है जो दुःख का अनुबंध समाप्त कर दे। दुःख देने वाला संस्कार जहां निर्जीर्ण हो गया, समाप्त हो गया, वही सुख है।

लोग मानते हैं कि प्रिय व्यक्ति की स्मृति करना सुख है। प्रिय व्यक्ति चला गया, उसकी स्मृति सताने लग जाती है। वही प्रिय व्यक्ति दुःख का कारण बन जाता है। हम प्रियता के नाम पर जितना दुःख भोगते हैं, अप्रियता के नाम पर उतना नहीं भोगते। हम प्रियता के नाम पर हज़ारों कष्ट झेलते है। जो प्रिय व्यक्ति है उसका सब कुछ सह लेते हैं। प्रिय व्यक्ति रहता है तब भी दुःख देता है और चला जाता है तब भी दुःख देता है। वह दोनों अवस्थाओं में दुखदायी होता है। अप्रिय व्यक्ति कोई दुःख नहीं देता। हमारी कितनी बड़ी भ्रांति है कि जो दुःख देता है उसे हम मित्र मान लेते है, प्रिय मान लेते हैं और जो दुःख नहीं देता उसे हम शत्रु मान लेते हैं, अप्रिय मान लेते हैं। सम्यग् दर्शन होते ही सुख और दुःख की सारी धारणा ही बदल जाती है। तब हम सुख उसी को मानते हैं जो दुःख के संस्कार को समाप्त कर देता है। निर्जरण सुख है। निर्जरण का अर्थ है—संस्कारों की समाप्ति। संस्कार वह है जो फिसलाता है, फिर चाहे वह प्रिय व्यक्ति का संस्कार हो या अप्रिय व्यक्ति का संस्कार हो।

जब समस्या आती है, कठिनाई आती है, तब सारा दोष परिस्थिति, वातावरण या निमित्त का मान लिया जाता है। मनुष्य में जितनी विकृतियां होती हैं, उनकी उत्पत्ति निमित्तों के कारण मान ली जाती है। निमित्तों का वातावरण पर उनकी उत्पत्ति का आरोपण कर दिया जाता है। किंतु सम्यग् दर्शन के घटित होने पर ऐसा नहीं होता। तब व्यक्ति उस विकृति के उपादान की खोज करता है। वह परिस्थिति या वातावरण के घेरे से मुक्त होकर उपादान की खोज में निकल

पड़ता है।

हम बीमारी के विषय में सोचें। बीमारी की अनेक धारणाएं हैं। एक सिद्धांत है कि वात, पित्त और कफ के दोष से बीमारी होती है। एक सिद्धांत है कि कीटाणु रोग के वाहक होते हैं। एक सिद्धांत है कि शरीर में विजातीय तत्त्वों के संचय से बीमारी होती है। एक सिद्धांत है कि बीमारी का मूल कारण है—कर्म। त्रिदोष, कीटाणु, विजातीय तत्त्व—ये रोग के उपादान नहीं हैं। रोग का उपादान है—कर्म। रोग का उपादान है—संस्कार। कर्म और संस्कार रोग के उपादान हैं, ऐसा नहीं लगता, किंतु गहराई से सोचने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह सचाई है। इसे इस तर्क से समझें। निमित्तों के होने पर रोग हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। निमित्तों के होने पर यदि रोग का उपादान प्राप्त है तो रोग हो जाएगा, अन्यथा निमित्त व्यर्थ ही चले जाएंगे। किंतु उपादान के होने पर निमित्त होते हैं तो रोग निश्चित ही होगा। मूल बात है उपादान। निमित्त उसके सहायक होते हैं। जब सारा ध्यान सहायक तत्त्वों पर, निमित्तों या वातावरण पर दे देते हैं तब कठिनाई पैदा होती है। सम्यग्दर्शन की जागृति होने पर व्यक्ति का ध्यान निमित्तों से हटकर उपादान पर जाता है। वह निमित्तों की सर्वथा उपेक्षा नहीं करता। उनको भी वह उचित मूल्य देता है किंतु उन्हें उपादान का स्थान नहीं देता, उन्हे मूल नहीं मानता, गौण मानता है।

अन्तर्दृष्टि (४)

अंतर्दृष्टि के जागने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, आग्रह टूट जाता है, अनेकांत-दृष्टि विकसित हो जाती है। मनुष्य आग्रह से भरा होता है। वह किसी एक बात को जानकर उसको परमसत्य मान लेता है। उसका वह आग्रह करने लगता है। वह उसे अंतिम सत्य मान लेता है। फिर कोई नया सत्य सामने आता है वह उसे अस्वीकार कर देता है। किंतु जब अनेकांत की चेतना विकसित होती है तब कोई आग्रह अवशेष नहीं रहता। जो पहले कहा वही सत्य है या जो पहले जाना वही सत्य है, ऐसी धारणा नहीं होती। पहले कही हुई बात या पहले जाना हुआ सत्य भी बदला जा सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि पहले ऐसा कहा था, आज ऐसा कहा जा रहा है, यह क्यों ? ऐसा हो सकता है। उस दिन जो जाना था, वह कहा था, आज जो नया सत्य ज्ञात हुआ है, वह कहा जा रहा है।

साधना के क्षेत्र मे भी कुछ एकांतिक आग्रह हो जाता है। कुछ लोग एक पद्धति को स्वीकार करते हैं, वे दूसरी पद्धति की उपयोगिता को अस्वीकार करना पसंद करते है। अनेकांतदृष्टि जागने पर ऐसा नही होता। पहले एक आग्रह था कि साधना जंगल मे ही हो सकती है, किंतु अनेकांतदृष्टि के परिप्रेक्ष्य मे जब सोचा गया तो यह धारणा टूट गयी। यह भी सोचा गया कि साधना गांव में भी हो सकती है। साधना अकेले मे ही हो सकती है, यह आग्रह भी नहीं होना चाहिए। साधना समुदाय मे भी हो सकती है। समूह मे जो वातावरण मिलता है, वह अकेले में नही मिलता। कुछ साधनाएं ऐसी होती हैं जो अकेले में ही हो सकती है, समूह में नही हो सकती। कोई एकांतिक आग्रह नहीं रहता।

स्मृति का निषेध किया जाता है कि ध्यान-काल में स्मृति न हो। किंतु साधना मे स्मृति का भी उपयोग होता है। एकाग्रता है क्या ? ध्रुव स्मृति ही एकाग्रता है। एक वस्तु पर स्मृति निरंतर होती है, वह एकाग्रता बन जाती है।

साधना में कल्पना नहीं होनी चाहिए, किंतु संकल्प-शक्ति का उपयोग किया जाता है। संकल्प-शक्ति के विकसित होने पर ध्यान के एक नये परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति पहुंच जाता है। इस शक्ति के सहारे अनेक उपलब्धियां होती हैं।

इस प्रकार ध्यान में कल्पना का भी उपयोग है, संकल्प का भी उपयोग है।

एक मानसिक चित्र का हम निर्माण करते हैं। आज वह घटना घटित नहीं है, किंतु जब संकल्प-शक्ति के द्वारा एक मानसिक चित्र का निर्माण हो गया तो उस घटना को घटित होना ही पड़ेगा। उसे कोई रोक नहीं सकता। जैसे एक आदमी अपनी अंगुलियों से एक स्थूल वस्तु का निर्माण करता है। वस्तु भी स्थूल और अंगुलियां भी स्थूल। वह वस्तु हमारे सामने स्पष्ट रूप ले लेती है। जिस रंग से आदमी उस चित्र को रंगता है वह रंग उसमें उभर आता है। उसने अर्हम् लिखना चाहा तो अर्हम् लिख दिया। जिस रंग मे लिखना चाहा, उस रंग में लिख दिया। जिस प्रकार वह अंगुलियों से लिखता है, चित्र बनाता है, उसी प्रकार वह सकल्प-शक्ति से भी वह काम कर सकता है। कहना चाहिए कि अंगुलियों की शक्ति से बहुत अधिक शक्ति होती है संकल्प में। अंगुलियों की शक्ति की सीमा है, संकल्प-शक्ति असीम होती है। अंगुलियां स्थूल है। वे हमे प्राप्त हैं। उनका उपयोग करना हम जानते है। हमने तूलिका ली, उसे चलाया और अक्षरों का विन्यास हो गया। यदि हम संकल्प-शक्ति का उपयोग करना जान जाएं तो आकाश के वायुमंडल से परमाणुओं को ले सकते हैं और उन्हे इच्छित आकार दे सकते हैं और जो हम लिखना चाहते है वह साक्षात् लिखा जा सकेगा। यह है प्रायोगिक परिणमन। यह प्रयोग से होने वाला परिणमन है। अंगुलियों के प्रयोग से परिणमन करते है वैसे ही संकल्प-शक्ति से भी हम परिणमन कर सकते है और नाना प्रकार के रूपों का निर्माण कर सकते है। वैक्रियलब्धि का बीज यही है। वैक्रियलब्धि के आधार पर अनेक रूपों का निर्माण होता है। भावितात्मा अनगार, चतुर्दशपूर्वी इसका प्रयोग कर सकता है। चतुर्दशपूर्वी एक घड़े से हजार घड़ों का निर्माण कर सकता है। भावितात्मा अनगार, जिसने भावनाओं का अभ्यास किया है, वह भी नाना रूपों का निर्माण कर सकता है। यह संकल्प-शक्ति का प्रयोग है, भावना का प्रयोग है। यदि भावना का अभ्यास पुष्ट हो जाए, संकल्प-शक्ति का विकास हो जाए तो विविध रूपों के निर्माण में कोई बाधा नहीं आती। आहारक लब्धि के द्वारा एक पुतले का निर्माण करना, विचारों का संप्रेषण करना, विचारों को मंगवाना, अपना प्रति-बिंब प्रेषित करना—ये सारे संकल्प-शक्ति के चमत्कार है। ये सारे भावना के प्रयोग हैं। भावितात्मा अनगार इन्हें कर सकता है।

दो प्रकार के अनगार होते हैं—भावितात्मा अनगार और संवृतात्मा अनगार। जो संवृतात्मा होता है वह वीतरागता की दिशा में विकास करता है। वह वीतरागता की ओर बढ़ता चला जाता है। जो भावितात्मा होता है, उसमें शक्ति

के प्रयोग की क्षमता का विकास होता है। वह लब्धि-संपन्न हो जाता है।

इस प्रकार साधना के क्षेत्र में स्मृति का भी उपयोग है और संकल्प का भी उपयोग है। इनका एकांतत: निषेध नहीं किया जा सकता। जब किसी एक बिंदु पर टिकना होता है, उसे ही देखना होता है तब कल्पना और संकल्प से बचना होगा। उन्हें रोकना होगा। किंतु जब कल्पना और संकल्प का ही उपयोग करना है तब देखना बंद करना होगा।

जब अनेकांतदृष्टि जागती है तब सारे आग्रह टूट जाते हैं। उस समय केवल सत्य ही सामने रहता है। न पूर्व की मान्यता रहती है और न पश्चिम की मान्यता रहती है, न पहले की मान्यता टिकती है और न बाद की मान्यता टिकती है। वही टिकता है जो यथार्थ होता है। अंतर्दृष्टि की एक धारा है सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन की एक धारा है अनेकांत।

अंतर्दृष्टि का दूसरा लक्षण है—अतीन्द्रिय ज्ञान की स्वीकृति। जब तक मूढ़ अवस्था रहती है तब तक मनुष्य अतीन्द्रिय ज्ञान की सत्ता को स्वीकार नहीं कर सकता। कषाय का कुहरा इतना सघन होता है, मूर्च्छा इतनी सघन होती है कि मनुष्य के यह समझ मे भी नहीं आ सकता कि इन्द्रियों के परे भी कुछ हो सकता है। वह यही मानता है कि जो इन्द्रियगम्य है वही सत्य है, यथार्थ है। जो इन्द्रियगम्य नहीं है, अतीन्द्रिय है, उसे कैसे माना जा सकता है? हज़ार प्रयत्न करने पर भी वह इस सत्य को नही जान पाता। किंतु जब यह मूर्च्छा टूटती है, जब उसका अनन्त अनुबंध सीमित हो जाता है, जब वह नये-नये मोहों का निर्माण नहीं करता तब उसकी यह चेतना जागती है कि अतीन्द्रिय सत्य भी हो सकता है। इन्द्रियों से परे भी सत्य है। अतीन्द्रिय सत्य को स्वीकृति देने वाली चेतना की जागृति होते ही अतीन्द्रिय सत्यों की खोज प्रारम्भ हो जाती है। ऐसा नहीं होता कि अंतर्दृष्टि के जागते ही सारा अतीन्द्रिय सत्य उपलब्ध हो जाता है। सारा अतीन्द्रिय सत्य उपलब्ध नहीं होता किंतु अतीन्द्रिय सत्य की दिशा में उसकी चेतना गतिशील हो जाती है। उसे खोज निकालने की प्रवृत्ति प्रारंभ हो जाती है। अब उस अतीन्द्रिय सत्य के प्रति होने वाली अनास्था, विचिकित्सा और आशंका समाप्त हो जाती है। जिस व्यक्ति में अतीन्द्रिय सत्य को स्वीकार करने की क्षमता जागृत हो गई तो समझना चाहिए कि अंतर्दृष्टि का जागरण हो गया है।

अंतर्दृष्टि का तीसरा लक्षण है—अनन्त अनुबंध की समाप्ति। अंतर्दृष्टि से संपन्न व्यक्ति नये-नये मोहों का निर्माण नही करता। वह नयी-नयी मूढ़ता के जाल में नहीं फंसता, जैसे मूढ़ अवस्था वाला व्यक्ति फंसता जाता है। मूढ अवस्था वाला व्यक्ति एक समस्या को मिटाना चाहता है किंतु पांच नयी समस्याएं खड़ी कर लेता है। अंतर्दृष्टि के जागने पर नये-नये मोह निर्मित नहीं होते। व्यक्ति का दृष्टिकोण इतना ऋजु हो जाता है कि वह समस्या का उचित समाधान ढूंढ लेता

है, नयीसमस्याएं उत्पन्न नहीं करता। उसका अनन्त अनुबंध समाप्त हो जाता है

अंतर्दृष्टि का चौथा लक्षण है—प्रवृत्ति-केंद्रित नहीं होना। जिस व्यक्ति म अंतर्दृष्टि जाग जाती है वह प्रवृत्ति-केंद्रित नहीं होता। मूढ़ व्यक्ति प्रवृत्ति-केंद्रित होता है। वह अपने चारों ओर प्रवृत्तियों का जाल बुन लेता है। वह प्रवृत्ति को ही प्रधान मानकर चलता है। अंतर्दृष्टि से संपन्न व्यक्ति प्रवृत्ति को देखता है तो उसके पीछे रहे हुए हेतु को भी देखता है। इतना ही नहीं, वह होने वाले परिणाम को भी देखता है। उसके चिंतन के तीन आयाम होते हैं—प्रवृत्ति, हेतु और परिणाम। उसका दृष्टिकोण त्रि-आयामी बन जाता है। कोई दुःख आया या कोई सुख आया, वह केवल दुःख या सुख को नहीं देखेगा। वह देखेगा कि दुःख का हेतु क्या है? वह देखेगा कि दुःख का परिणाम क्या होगा? वह देखेगा कि सुख का हेतु क्या है? वह देखेगा कि सुख का परिणाम क्या होगा?

अध्यात्म के आचार्यों और तत्त्ववेत्ताओं ने इस बात पर बहुत बल दिया कि इन्द्रियभोग का संयम करो; मानसिक तरंगों और कल्पनाओं का संयम करो; मन की उच्छृंखलता का संयम करो। किंतु असंयम जितना अच्छा लगता है, संयम कभी उतना अच्छा नही लगता। जितना सुख असंयम में प्रतीत होता है, संयम मे कोई सुख प्रतीत नहीं होता। फिर अध्यात्म के आचार्यों ने ऐसा क्यों कहा? क्या संसार के प्रवाह से विपरीत चलना ही अध्यात्म है? यदि ऐसा है तो वह बहुत ही अग्राह्य मार्ग है। वह कभी ग्राह्य नहीं हो सकता। क्या जो प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है, उसे उलट देना ही अध्यात्म का मार्ग है? यदि यह है तो वह बहुत तथ्यपूर्ण नहीं है।

अध्यात्म के आचार्यों ने प्रवृत्ति के आधार पर यह नहीं कहा कि इन्द्रियों का संयम करो, मन का संयम करो, मन की उच्छृंखलता को सीमित करो, नियंत्रित करो। यदि इसी आधार पर कहते तो यह बहुत तथ्यपूर्ण कथन नहीं होता। उन्होंने हेतु और परिणाम के आधार पर प्रवृत्ति के संयम की बात कही।

एक कुशल वैद्य केवल औषधि पर ही ध्यान नहीं देता। वह पथ्य पर भी ध्यान देता है। वह अमुक-अमुक प्रकार के भोजन का निषेध करता है। क्योंकि वह जानता है, अमुक प्रकार के भोजन का परिणाम क्या होगा? वह परिणाम पर विचार करके ही ऐसा करता है। वह पूर्वभुक्त भोजन को समझकर तथा भविष्य मे उस भोजन से होने वाले परिणामों को ध्यान में रखकर भोजन का निषेध करता है, पथ्य का विधान करता है।

पांचों इन्द्रियों के जितने विषय हैं, मन के जितने विषय हैं, चाहे स्मृति हो या कल्पना—ये सब वर्तमान में मनोज्ञ लगते हैं, प्रिय और मधुर लगते हैं। फिर भी अध्यात्मवेत्ताओं ने कहा कि इनमें मत फंसो, क्योंकि इनका परिणाम सुन्दर नहीं होगा। ये सब आपातभद्र होते है, इनका परिणाम विरस होता है। प्रवृत्ति में कोई

असुन्दरता नहीं है, कोई अप्रियता नहीं है, किंतु जिसका परिणाम सुन्दर नहीं होता, वस्तुतः वह प्रवृत्ति भी सुन्दर नहीं होती। अध्यात्म की भाषा बदल जाती है। अध्यात्मविद् उसे सुख नहीं कहते जो प्रवृत्तिकाल में सुख-सा लगता है। वे उसे दुःख नहीं कहते जो प्रवृत्तिकाल में दुःख-सा लगता है। वे उसे सुख कहते हैं जिसका परिणाम सुखद होता है। वे उसे दुःख कहते हैं जिसका परिणाम दुःखद होता है। उनकी भाषा ही भिन्न होती है।

जब अंतर्दृष्टि जागती है तब प्रवृत्ति-केंद्रित दृष्टि नहीं रहती। वह तीन आयामों में फैल जाती है। हेतु और परिणाम के बीच होती है प्रवृत्ति। हेतु और परिणाम के आधार पर प्रवृत्ति की सुन्दरता और असुन्दरता का निर्णय होता है।

मैंने अंतर्दृष्टि के चार लक्षणों की चर्चा की है। यदि ये चार लक्षण विकसित होते हैं तो समझ लेना चाहिए कि व्यक्ति में अंतर्दृष्टि का जागरण हो गया है, वह अंतर्दृष्टि संपन्न हो गया है। ये चार कसौटियां हैं। उसे अध्यात्म की पहली भूमि प्राप्त है और अब वह आगे की भूमिकाओं में जा सकता है, गति कर सकता है।

जो व्यक्ति अंतर्दृष्टि से संपन्न होता है उसकी लेश्या भी बदल जाती है। उसका आभा-मंडल बदल जाता है। हम बहुत बार चाहते है कि मनुष्य का स्वभाव बदले। उसका चिडचिड़ापन दूर हो, गुस्सा दूर हो, उसका अप्रिय व्यवहार बदल जाये। यह सब चाहते है। किंतु स्वभाव बदलने की बात अपवाद-स्वरूप ही प्राप्त होती है। जब तेजोलेश्या का विकास होता है तब स्वभाव मे स्वतः परिवर्तन आ जाता है। उस समय उपदेश की आवश्यकता नही होती। अध्यात्मदृष्टि का विकास तेजोलेश्या से ही प्रारंभ होता है।

जब तेजोलेश्या प्रकट होती है तब व्यक्ति नम्रता से बर्ताव करता है। वह अचपल, अमायावी और अकुतूहली होता है। वह दान्त, समाधियुक्त, उपधान करने वाला, प्रियधर्मा, दृढधर्मा और मुक्ति की गवेषणा करने वाला होता है।

जब तक कृष्णलेश्या रहती है, अंधकार के काले पुद्गल रहते है तब तक विचार बुरे बने रहते है। आकाशमंडल मे कृष्णलेश्या के परमाणु फैले हुए है। बुरे आदमियों द्वारा विसर्जित बुरे विचारो के परमाणु भी आकाश-मंडल में व्याप्त है। सजातीय सजातीय को खींचता है। कृष्णलेश्या के परमाणु उन बुरे विचारों के परमाणुओं को खींचते हैं। आकाश-मंडल मे अच्छे परमाणु भी भरे पड़े है, शुक्ललेश्या के परमाणु भी व्याप्त है, किंतु वे नही खीचे जा सकते। जब तक व्यक्ति में कृष्णलेश्या के परमाणु कार्यरत हैं तब तक वे उन्हीं विचारों के परमाणुओं को खींचते हैं जो सजातीय है। इस प्रकार बुरे-बुरे विचार आते रहेंगे और बुरी आदतों का निर्माण होता रहेगा। जब विचार बुरे है तो आदतें अच्छी कैसे हो सकेगी।

जब तेजोलेश्या का प्रादुर्भाव होगा, लेश्या शुद्ध होगी, तब शुभ परमाणु आने

प्रारंभ होंगे, विचार अच्छे बनेंगे, बुरे विचार नष्ट हो जायेंगे और आदतें स्वतः परिवर्तित हो जायेंगी, स्वभाव बदल जायेगा।

तेजोलेश्या को जागृत करने के तीन साधन हैं—उपवास, दीर्घश्वास और आतापना। महावीर ने आतापना को बहुत बड़ा महत्त्व दिया। वे स्वयं इसका प्रयोग करते थे। यह तेजोलेश्या को विकसित करने का सशक्त माध्यम है। यह अध्यात्म की नींव का पहला पत्थर है। जब तक तेजोलेश्या का जागरण नहीं होगा, तब तक दूसरी शक्तियों का विकास नहीं होगा।

इस सत्य को आज के वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है। सूर्य की ऊर्जा जीवनी-शक्ति है। सूर्य-रश्मियों से प्राप्त शक्ति से अनेक कार्य संपन्न होते हैं। सूर्य का प्रकाश केवल मनुष्य, वनस्पति या अन्य प्राणियों को ही जीवनी-शक्ति नहीं देता, किंतु वह स्वयं एक खाद्य है। इस सिद्धांत पर पर्याप्त चर्चाएं चलीं। उस समय यह सिद्धांत मान्य नहीं हुआ। किंतु आज यह सिद्धांत सम्मत हो चुका है। इसके आधार पर अनेक प्रयोग हुए हैं।

एक बार चूहों को अपर्याप्त भोजन पर रखा गया। वे सूखने लगे। उनका शरीर क्षीण होने लगा। तब उनको धूप में रखा गया। अब शरीर-पोषण के जिन तत्त्वों की कमी थी वह पूरी हो गयी। चूहे पुन: पुष्ट हो गये। फिर उनको ठंड में रखा गया और पूरा खाद्य दिया गया। वे उतने पुष्ट नहीं हुए जितने धूप में हुए थे। इसका निष्कर्ष यह निकाला गया कि भोजन से जो तत्त्व प्राप्त होते हैं, धूप से उनसे अधिक तत्त्व मिलते हैं।

भोजन पर प्रयोग किया गया। उसे दो घंटा धूप में रखने पर उसकी विद्युत् बढ़ गयी।

यह स्पष्ट है कि सूर्य से शक्ति प्राप्त होती है। तैजस शरीर को भी सूर्य का तैजस चाहिए, धूप की शक्ति चाहिए।

बहुत खाने वालों को अजीर्ण होता है। वह दिन में कम, परंतु रात में ज्यादा होता है। जब तक सूर्य का ताप है तब तक पाचन-शक्ति बलवान् रहती है। वह प्राप्त भोजन को पचाने मे लग जाती है। जब सूर्य का प्रकाश मिलना बंद हो जाता है तब तैजस शरीर भी काम करना बंद कर देता है और तब अजीर्ण का अनुभव होने लगता है। रात्रि में पाचन-यंत्र के स्नायु सिकुड़ जाते हैं, पाचन की क्षमता कम हो जाती है। रात्रि-भोजन के निषेध का यह बहुत बड़ा वैज्ञानिक तथ्य है। सूर्य के प्रकाश मे पाचन-तंत्र की सक्रियता बढ़ती है। इसीलिए कहा गया कि सूर्य को उदित हुए दो घंटे हो जाएं तब खाया हुआ भोजन ठीक पचता है। इससे पूर्व कुछ भी नहीं खाना चाहिए। सूर्य के रहते-रहते भोजन करने वाला पाचन के दोषों से मुक्त रह सकता है।

सूर्य की शक्ति के सहारे तैजस शरीर भी सक्रिय रहता है। दिन में जो

सक्रियता रहती है वह रात में नहीं रहती। हम सोचते हैं कि दिन में काम करने से थकान आ जाती है, इसलिए रात्रि में सक्रियता नहीं रहती। थकान भी रात में महसूस होती है। जितनी सुस्ती है वह अंधकार में ज्यादा उभरती है। सूर्य की शक्ति प्राप्त होते ही हमारे तैजस शरीर को शक्ति मिलती है-। सारी क्षमताएं जाग जाती हैं। तैजस शरीर की क्षमता का विकास होने पर तेजोलेश्या का विकास होता है। सुख का अनुभव भी तेजोलेश्या से होता है। जब कृष्णलेश्या के स्पंदन होते हैं, दुःख का अनुभव होता है। जब तेजोलेश्या के स्पंदन जागते हैं, तब सुख का अनुभव होता है।

अंतर्दृष्टि के जागने पर एक बड़ा परिवर्तन होता है और वह यह कि मूढ़ अवस्था में व्यक्ति केवल बाहरी निमित्तों से होने वाले सुखद स्पंदनों का अनुभव करता है। उसे यह पता भी नहीं चलता कि भीतर में भी सुखद स्पंदन हैं। तेजोलेश्या जैसे ही विकसित होती है, भीतर के सुखद स्पंदन जाग जाते हैं। उस समय वह सोचता है—अरे, यह क्या हुआ ? सुख का अनुभव कैसे हुआ ? बाहर का कोई निमित्त नहीं है, पदार्थ नहीं है, इतना सुख कहां से आया ? यह अंतर् से प्रस्फुटित होने वाला सुख है। यह पदार्थ-निरपेक्ष सुख है। यह तैजस शरीर से प्रस्फुटित होने वाला सुख है। यह सुख इतना आनन्ददायी और मधुर होता है कि उसको छोड़ने का मन नहीं करता। बाह्य पदार्थों से होने वाले सुख की अपेक्षा तेजोलेश्या से होने वाला सुख बहुत प्रचुर है। विद्युत् में केवल गर्मी पैदा करने की ही शक्ति नहीं होती, उसमें ठंडक की भी शक्ति होती है। तेजोलेश्या की ठंडक भी इतनी सुखद होती है कि जिसकी कल्पना करना भी कठिन होता है।

तेजोलेश्या के प्रकट होने पर सुख का नया आयाम खुल जाता है। अंतर्दृष्टि के जागने पर ध्यान की धारा भी बदल जाती है।

अन्तर्दृष्टि (५)

अंतर्ज्योति का एक रूप है—अनुप्रेक्षा और दूसरा रूप है—ध्यान। घनीभूत अनुप्रेक्षा ध्यान बन जाती है। पानी जमता है, बर्फ़ बन जाता है। बूंद की निरंतरता धार बन जाती है। इसी प्रकार चेतना की निरंतरता ही ध्यान है। चेतना का घनीभूत होना ही ध्यान है। पारद तरल है, अत्यंत तरल है। वह भी घनीभूत होकर स्थिर हो जाता है। जो चंचल होता है, वह स्थिर भी होता है। मन चंचल है। कोई मन को पकडना चाहे तो पकड नहीं सकता। मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि मन की चंचलता को नहीं रोका जा सकता। किंतु जब तरल पारद को बांधा जा सकता है तो मन को क्यों नहीं बांधा जा सकता? उसे घनीभूत क्यों नहीं किया जा सकता? उसे क्यों नहीं पकड़ा जा सकता? 'रसवच्चंचलं मन:'—मन रस (पारद) की तरह चंचल है। पारद को सिद्ध करने पर अनेक उपलब्धियां होती हैं। मन को सिद्ध करने पर भी अनेक सिद्धियां प्राप्त होती है। पारद को सिद्ध करने पर संसार में ऐसा क्या है जो सिद्ध नहीं होता? इसी प्रकार मन को साध लेने पर ऐसा क्या है जो नहीं साधा जा सकता? तरल पारद उपाय से सिद्ध होता है, वैसे ही चंचल मन उपाय से सिद्ध होता है। उपायों का आलम्बन लेकर मन को सिद्ध करना ही ध्यान है। अनुप्रेक्षा करते-करते जब चंचलता समाप्त हो जाती है, कषाय शांत हो जाता है तब मन की गंभीरता बढ़ती जाती है और एक बिंदु पर मन टिक जाता है। एकतानता, एकलयता, एकचित्तवृत्ति, एकज्ञानवृत्ति बनती है तब ध्यान सधता है। ध्यान के लिए कुछ आलंबन आवश्यक होते हैं। एक आलंबन है शब्द का, एक है श्वास का, एक है रूप का। जब हमारी क्षमता का विकास होता है तब सभी आलंबनों को छोड़कर मन निरालंब हो जाता है। तब ध्यान की प्रगाढ़ता आ जाती है। निर्वात-गृह में स्थित दीपक की भांति चित्त लीन हो जाता है। निर्वातगृह में रखा हुआ

दीपक बुझता है किंतु मन इतना लीन हो जाता है कि सूर्य की भांति प्रकाश निरंतर बना रहता है। उस समय शुक्लध्यान की स्थिति बन जाती है। किंतु प्रारंभकाल मे आलंबन जरूरी है।

'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'—स्वयं सत्य की खोज करो। सत्य की खोज के लिए ध्यान आवश्यक है। आप सोच सकते हैं कि आज का वैज्ञानिक यंत्रों के माध्यम से सत्य की खोज करता है। यह सही है। किंतु इसका स्थान द्वय है। प्रथम स्थान है—धर्म-ध्यान का। वैज्ञानिक वस्तुओं के धर्मों का, पर्यायों का ध्यान करता है और ध्यान करते-करते उसमें कोई मत प्रगट होता है। फिर वह यंत्रों का माध्यम लेकर उस मत की जांच करता है। वैज्ञानिक जब खोज मे खोया रहता है तब कभी-कभी ऐसा होता है कि उसे अकस्मात् कुछ सूझता है. अकस्मात् उसके ध्यान में कुछ आता है और वह उसे एक हाइपोथिसिस मानकर आगे की खोज करता है, परीक्षण करता है और एक सचाई हाथ लग जाती है। ध्यान की अवस्था मे ही सचमुच सत्य उतरता है। ध्यान करने वाला सोता है तो सोते समय भी उसके मस्तिष्क मे सत्य उतर आता है, जागते समय भी उतर आता है और बैठे-बैठे भी उतर आता है। उस समय ऐसा लगता है कि मानो कोई शक्ति सत्य को संप्रेषित कर रही है। वह कह उठता है—यह रही सचाई, यह रही सचाई, यह रही सचाई। सारी सचाइयां प्रकट होने लगती है। चिंतन चलता है और वह चिंतन लंबे काल में ध्यान बन जाता है।

'कोऽहम्'—मैं कौन हूं—यह दर्शन जगत् का बहुत बडा प्रश्न है। दार्शनिक इस प्रश्न को लेकर बैठता है। चिंतन चलता है। चिंतन करते-करते एक बिंदु ऐसा आता है कि वह चिंतन ध्यान बन जाता है। उस ध्यान का अभ्यास करते-करते एक दिन इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो जाता है कि 'सोऽहम्', जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा से आया है 'वह मैं हूं'—सोऽहम्। इसी के आधार पर आत्मवाद का पहला प्रश्न समाहित हुआ है। जो ज्ञाता और द्रष्टा है वह मैं हूं। जो बाहर का वातावरण है, दिग्-काल आदि है. वह मैं नही हूं। जो बाहर का परिवेश है वह मैं नहीं हू। जो शरीर है वह मैं नहीं हू। जो वासनाएं और कषाय है वह मैं नही हूं। जो संज्ञाएं है वह मैं नहीं हूं। इन सबसे परे जो केवल ज्ञाता और द्रष्टा है, अरूपी सत्ता है, शुद्ध चैतन्य है, वह मैं हूं—सोऽहम्।

ध्यान सत्य को खोजने की प्रक्रिया है। जितने भी सत्य खोजे गये है वे सब ध्यान के माध्यम से ही खोजे गये हैं। चंचल चित्त वाले व्यक्ति ने कभी किसी नये सत्य की खोज नहीं की। उसने तर्कों और विकल्पों के द्वारा सत्य को तोड़ा-मरोड़ा है। उसने विकल्पों का जाल बिछाया है, पर उसे कभी सत्य हाथ नही लगा। चंचल चित्त वाला व्यक्ति कभी सत्य को नही खोज सकता। जिसे भी सत्य खोजना होता है उसे चित्त की स्थिरता मे, शांतता में प्रवेश करना ही पड़ेगा।

'संसार क्या है ?' इसे खोजते-खोजते उसका स्वरूप स्पष्ट रूप से सामने प्रकट हो जाता है। ईथर की खोज हुई। चिंतन के आधार पर, ध्यान के आधार पर, मन की स्थिरता के आधार पर यह सोचा गया कि पदार्थ की गति का कोई माध्यम होना चाहिए। जहां माध्यम नहीं होता, वैक्यूम होता है वहां भी गति होती है। शून्यता में भी गति होती है तो उस गति का कोई न कोई माध्यम अवश्य होना चाहिए। इसी चिंतन से ईथर की खोज हुई।

इन्द्रियों से परे भी कुछ है—इस चिंतन ने अतीन्द्रिय सत्यों को खोज लिया। आज्ञा-विचय ध्यान बन गया। चाहे आत्मा को खोजें, चाहे इस प्रश्न पर ध्यान करें कि मैं कौन हूं ? चाहे इस प्रश्न पर ध्यान करें कि जगत् क्या है ?—इनमें कोई अन्तर नही है। आत्मा पर ध्यान करना कोई विशेष बात नहीं है और पदार्थ पर ध्यान करना कोई साधारण बात नही है। एक परमाणु का ध्यान करना और आत्मा का ध्यान करना—दोनों मे कोई अन्तर नही है। ध्यान ध्यान है। एक परमाणु के ध्यान में जितनी शुद्धता है उतनी ही शुद्धता आत्मा के ध्यान मे है। जहां राग-द्वेष नहीं, जहां ज्ञाता ज्ञेय पर अपने ज्ञान का उपयोग करता है, वह उपयोग की धारा उतनी ही निर्मल है, उतनी ही प्रकाशवान है। कोई अन्तर नही सूर्य के प्रकाश में, बिजली के प्रकाश मे या दीपक के प्रकाश में। उसमे आप सोने को भी देख सकते है और कंकड़ को भी देख सकते है। प्रकाश मे कोई अन्तर नहीं आयेगा। प्रकाश प्रकाश है। उसका काम है वस्तु को प्रकाशित करना। ज्ञेय कैसा है ? क्या है ? इसमें कोई अन्तर नही आता। ज्ञाता का स्वभाव है ज्ञेय को जानना। वह ज्ञेय को जानता है, फिर चाहे वह आत्मा के पर्यायों को जाने, पदार्थ के पर्यायों को जाने, विकृतियो के पर्यायों को जाने, कषाय के पर्यायों को जाने, जानने मे कोई अन्तर नहीं आता। इसमे एक ही शर्त है कि जानने के साथ राग-द्वेष की तरंगें नहीं होनी चाहिए। राग-द्वेष न हो तो कोई अंतर नहीं आता। फिर चाहे व्यक्ति 'स्व' का ध्यान करे या 'पर' का ध्यान करे, चाहे धर्म का ध्यान करे या अधर्म का ध्यान करे। चाहे कषाय, उत्तेजना और वासना का ध्यान करे या शांति और मैत्री का ध्यान करे। यदि ध्यान की स्थिति मे कोई राग-द्वेष की तरंगें नही है, कषाय की तरंगें नही हैं तो ध्यान में कोई अंतर नही आयेगा। ज्ञान का काम है सत्य की खोज करना। सत्य की खोज हो जाती है तो आत्मा का निर्मलभाव प्रकट होता है। यदि ध्यान के द्वारा अच्छी-अच्छी ही चीजें खोजी जातीं तो बुरी चीजें सामने नहीं आती। यदि बुरी चीजें नही खोजी जातीं तो अच्छी चीजों का पता ही नहीं चलता। बुरी चीजो पर ध्यान देना भी जरूरी है।

हम सोचते हैं कि आदमी विकार क्यों करता है ? क्रोध क्यों करता है ? मानसिक विकृतियों का दास क्यों बनता है ? आप ध्यान प्रारंभ करें। सारे के सारे हेतु स्पष्ट हो जायेंगे। आप जान जायेंगे कि अंदर क्रोध वेदनीय कर्म है

इसलिए क्रोध आता है, भय वेदनीय कर्म है, इसलिए भय आता है। इसी प्रकार प्रत्येक दोष का कारण विद्यमान है। सारे दोषों को खोजते चले जायें, ध्यान करते चले जायें, अपायविचय ध्यान हो जायेगा। आस्रवों का विचय करें। आस्रवों के कारण अनेक वृत्तियां जागती है। उनके कारणों को खोजें। वृत्तियों के हेतुओं को खोजें। यह खोज अपायविचय है। सत्य की यह बहुत बड़ी खोज है।

सबके भीतर सब संज्ञाएं है। यह दोष अपने द्वारा किया हुआ संचय है। वह भीतर पड़ा है। हम उसे क्यों छिपायें? अपायविचय के द्वारा हम एक-एक कर उसे बाहर निकाल दें। किसी व्यक्ति में भय की संज्ञा प्रबल होती है, किसी में वासना की संज्ञा प्रबल होती है, किसी मे परिग्रह की संज्ञा प्रबल होती है और किसी मे क्रोध की, किसी मे मान की और किसी में माया की वृत्ति प्रबल होती है। ध्यान करने वाले व्यक्ति को यह खोजना चाहिए कि उसमें कौन-सी संज्ञा, कौन-सी वृत्ति प्रबल है। वह उसका पहले उपचार करे, पहले उसकी चिकित्सा करे। यदि वह उस दोष के उपचार की बात नहीं सोचता और ऐसा अभिनय करता है कि वह तो वीतराग है, दोषों से रहित है तो यह एक भ्रांति होगी। यह अभिनय सत्य की खोज की ओर नहीं ले जायेगा। वह असत्य का पालन करेगा और वह भीतर मे रहा हुआ असत्य इतना विस्फोट करेगा कि व्यक्ति और अधिक बुराइयों में फंसेगा। अपायविचय दोषों को दूर करने का महत्त्वपूर्ण उपाय है। हम अपायों का विचय करें, उनका विश्लेषण करें, उनका पृथक्करण करें, उनको देखें, उनकी प्रेक्षा करें। उनको समझें और उनके उपचार के उपायों को काम में लें।

हम बहुत बार देखते है कि अनेक प्रकार की वृत्तियां उभरती है। कभी-कभी अनहोनी बात भी हो जाती है। व्यक्ति ऐसा बन जाता है, जिसकी वह स्वय या दूसरे भी कल्पना नही कर पाते। पचास वर्ष तक आदमी निष्कलंक रहा। एक दिन एक वृत्ति उभरी और वह कलंक का भागी हो गया। वह स्वयं समझ नहीं पाता कि ऐसा क्यों हुआ और दूसरे व्यक्ति भी समझ नही पाते कि उसने ऐसा क्यो किया। ऐसा होता है। यह भी निर्हेतुक नहीं है। हेतु सहजतया समझ मे नहीं आता। उसको समझने के लिए हम विपाक पर ध्यान करें और सोचें कि यह किस अपाय का विपाक है। हमने कौन-सा बीज बोया था, जिसकी यह फलश्रुति है? बीज को खोजते समय हम फल पर भी ध्यान दें। यदि यह फल है, विपाक है तो इसका बीज यह होना चाहिए। बीज पर ध्यान देने का अर्थ है, विपाक पर ध्यान देना। विपाक बदला जा मकता है। हम कर्म की अवस्थाओं पर ध्यान दें। उदीरणा, संक्रमण, अपवर्तन, उद्‌वर्तन—इन सभी अवस्थाओं पर ध्यान करें। अपने पुरुषार्थ को देखें कि किस पुरुषार्थ के द्वारा इन विपाकों को बदला जा सकता है। यह विपाक-विचय ध्यान है।

संस्थान-विचय ध्यान के सत्य को खोजने का उपाय है। हम आकारों, रूपों और वस्तु की प्रकृतियों को देखें। वस्तुओं की आकृति और प्रकृति की खोज करते जाएं। अपने शरीर के भीतर की आकृति और प्रकृति को खोजें। शरीर की प्रेक्षा करें, पदार्थ की प्रेक्षा करें, किसी बिंदु की प्रेक्षा करें। हमारा ध्यान पदार्थ के संस्थान पर केन्द्रित हो जायेगा और तब उसके विभिन्न पर्याय स्पष्ट होते जायेंगे। यह संस्थान-विचय ध्यान है।

महावीर ने इन चार विचयों का प्रतिपादन किया। हम शब्दों के आलंबन से चलें और इन चार विचयों पर ध्यान करें। इनमें बहुत कुछ समा जाता है। ये तो चार उदाहरण मात्र हैं। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। आचार्यों ने इस ओर विकास किया और इनकी संख्या बढा दी। जब हेतुवाद प्रबल हुआ, तर्क का विकास हुआ, तब यह माना जाने लगा कि अतीन्द्रिय पदार्थ हम देख नहीं पा रहे हैं और इस स्थिति में हम क्यों मानें कि किसी ने अतीन्द्रिय सत्य का साक्षात्कार किया है। हम तो उसी सत्य को स्वीकार करेंगे जो बुद्धिगम्य है। जो बुद्धिगम्य नहीं है हम उसे स्वीकार नहीं करेंगे। अतीन्द्रिय सत्य को हम स्वीकृति नहीं देंगे। हम हेतुगम्य सत्य को मान सकते हैं, आज्ञागम्य या अहेतुगम्य सत्य को नहीं मान सकते। इस प्रकार आज्ञाविचय के साथ-साथ हेतुविचय का भी स्थान हो गया। तब कहा गया कि हेतुओं के द्वारा भी सत्य की खोज हो सकती है। यह लंगड़ाती-सी प्रक्रिया है, फिर भी इसका प्रचलन हुआ। कोरा अपाय खोजने से क्या होगा ? इसके साथ एक विचय और जुड़ गया। वह था उपायविचय, उपायों की खोज। अपायों को उपाय के द्वारा ही मिटाया जा सकता है। उपायों की खोज प्रारंभ हुई। सभी अपायों के उपाय खोजे जाने लगे। रोग का निदान करने मात्र से ही कार्य निष्पन्न नहीं होता। रोग को मिटाने का उपाय भी करना पड़ता है। जितने रोग हैं, उतने ही उपाय हैं।

विपाक को मिटाने के लिए विरागविचय की खोज हुई। विरागविचय अर्थात् पदार्थों के प्रति राग कैसे कम हो सकता है ? द्वेष कैसे कम हो सकता है ? उस विराग का विचय करो, विराग को खोजो।

संस्थान-विचय से पर्यायों को जाना, सब कुछ किया। उसका भी कोई प्रतिकार होना चाहिए ? इस चिंतन में भवविचय की खोज हुई। वह इसके साथ जुड़ गया। संसार मे कितना परिवर्तन होता है। आदमी मरता है, फिर जन्म लेता है। वह कभी किसी का पुत्र होता है, फिर पिता बन जाता है। वह कभी पति होता है तो कभी किसी की पत्नी बन जाता है। भाई का शत्रु बन जाता है और शत्रु का भाई बन जाता है। नाना पर्यायों की खोज की। भव-विचय का विकास हो गया।

आज्ञाविचय के साथ मूल तत्त्वों की खोज प्रारंभ हुई। आज के वैज्ञानिकों के

सामने भी यह प्रश्न है कि मूल कण क्या है ? वे अभी भी मूल कण की खोज में लगे हुए हैं। दार्शनिकों के सामने भी यह प्रश्न रहा कि संसार का मूल क्या है ? किसी ने कहा कि संसार का मूल चेतन है। किसी ने कहा कि संसार का मूल अचेतन द्रव्य है। अचेतन ही सारी सृष्टि का मूल है। किसी ने कहा कि चेतन से ही सारी सृष्टि का विकास हुआ है। इनके आधार पर दो विचय और जुड़ गए—जीव विचय और अजीव विचय। जीव का विचय करो, अजीव का विचय करो। चार विचय के दस विचय बन गए। इस प्रकार हज़ारों विचय हो सकते हैं। यह तो हमारे पर निर्भर है कि हम विचय-ध्यान को कितने प्रकार से विकसित कर सकते है। मूल बात यह है कि चित्त को स्थिर बनाकर, वस्तु के एक पर्याय या धर्म पर स्थिर होकर गहरे मे जाकर उसका साक्षात् करना, उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना। इस प्रकार हम छिपे हुए सत्य को साक्षात् कर लेंगे, समझ लेंगे।

धर्मध्यान सत्य के खोज की प्रक्रिया है। अंतर्दृष्टि का विकास होने पर धर्म-ध्यान का क्रम चालू हो जाता है। मूढ व्यक्ति की एकाग्रता इस विषय पर होती है कि इष्ट वस्तु कैसे प्राप्त हो और अनिष्ट वस्तु कैसे छूटे। प्रिय वस्तु की प्राप्ति कैसे हो और अप्रिय वस्तु कैसे छूटे। मनोज्ञ पदार्थ का संयोग कैसे हो और अमनोज्ञ का वियोग कैसे हो। अंतर्दृष्टि के जागने पर व्यक्ति की वृत्ति, व्यक्ति का चित्त सत्य की खोज मे एकाग्र हो जाता है। उसके लिए सत्य की खोज मुख्य बन जाती है और वह निरतर यह सोचता रहता है तथा चित्त को इस पर स्थिर करता है कि सत्य क्या है ? यथार्थ क्या है ? इस पर स्थिर होने पर वह अनेक सचाइयों का साक्षात् कर लेता है।

धर्म-ध्यान वस्तु-सत्यों को खोजने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह कोई धर्म-अधर्म का ध्यान नहीं है, किंतु वस्तु-धर्मों का ध्यान है, वस्तु के पर्यायों का ध्यान है। इससे वस्तु के रहस्यों का उद्घाटन होता है। आज वैज्ञानिक जगत् में जो बहुत सारी खोजें हो रही है, उन खोजों के पीछे धर्म-ध्यान ही काम कर रहा है। खोजना कोई बुरी बात नहीं है। खोज चाहे एक वैज्ञानिक करे या एक अध्यात्म-वेत्ता करे, साधक करे। खोज खोज है। वह आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान नही है। शर्त इतनी ही है कि उस खोज के साथ राग-द्वेष जुडा हुआ न हो। दस सेकंड में सारे संसार को नष्ट करने वाले शस्त्र की खोज धर्म-ध्यान नही है, क्योंकि उसके पीछे राग-द्वेष की शृंखला है। किंतु जहां शुद्ध सत्य की खोज है वहां केवल तत्त्व को खोजना है कि परमाणु क्या है ? इलेक्ट्रॉन क्या है ? प्रोटीन क्या है ? न्यूट्रॉन क्या है ? न्युक्लियस क्या है ?—यह सारी तत्त्व की खोज है। यह धर्म-ध्यान है। इस प्रकार मानसिक समस्याओं को खोजना, सकल्प-शक्ति के प्रभाव को खोजना—ये सारी खोजे वैज्ञानिक कर रहे है। जो खोजे अध्यात्म के साधक को करनी चाहिए थी वे सारी खोजें एक वैज्ञानिक कर रहा है। अध्यात्म-साधक इस ओर

सुप्त है, उदासीन है। किंतु वैज्ञानिक जागरूक है, प्रयत्नशील है। यह अध्यात्म जगत् को बहुत बड़ी चुनौती है। वैज्ञानिक निःस्पृह भाव से, राग-द्वेष-रहित भाव से यह कार्य कर रहा है। सत्य की खोज कोई भी करे, वह सत्य तक पहुंचता है। हम क्यों नहीं मानें कि सत्य की खोज करने वाला, चाहे फिर वह वैज्ञानिक हो या साधक, उस अंश में अध्यात्म का साथी है जिस अंश में वह राग-द्वेष से शून्य होकर तत्त्व की खोज में लगा रहता है। इस मर्म को समझना चाहिए और साधकों को सत्य की खोज में लग जाना चाहिए।

हम कैसे जान सकें कि व्यक्ति में धर्म-ध्यान का अवतरण हुआ है या नहीं ? कसौटी क्या है ? प्राचीन साधकों ने इसकी कसौटी भी बताई है। जब धर्मध्यान का अवतरण होता है तब व्यक्ति में अर्थ की खोज स्पष्ट हो जाती है। कोई समस्या सामने आयी, तत्त्व सामने आया और ऐसा लगे कि उसका समाधान लिखा हुआ-सा है तो समझना चाहिए कि व्यक्ति में धर्म-ध्यान घटित हो रहा है। वस्तु-सत्य की खोज करते-करते बहुत सारी बातें सहज ही प्रकट हो जाती हैं। एक बीज मिला और उसका सारा रहस्य प्राप्त हो जाएगा। एक वाक्य के आधार पर वह सारी बात समझ लेगा। पदानुसारिता, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि—ये सब धर्मध्यान करने वाले व्यक्ति के लक्षण हैं। धर्मध्यान की अनुभूति आंतरिक अधिक है और बाहरी कम। यह आंतरिक कसौटी है। व्यक्ति स्वयं इसका अनुभव कर सकता है कि उसमें धर्मध्यान उतर रहा है। उसका शील बदल जाता है। उसका स्वभाव बदल जाता है। उसमें मैत्री की भावना जाग उठती है। उसमें अहिंसा प्रस्फुटित होने लगती है। उसमे सत्य की प्रबल निष्ठा का उदय होता है। अचौर्य का विकास होता है। उसमे वासनाओं की विरति होती है। उसमें मध्यस्थभाव प्रकट होता है। उसकी मूर्च्छा घटती है। ये सब धर्मध्यान की आंतरिक कसौटियां है।

धर्म-ध्यान की बाहरी कसौटिया भी है। इससे शरीर की निश्चलता सधती है। बैठते ही शरीर निश्चल हो जाए तो समझना चाहिए कि धर्मध्यान उतर रहा है। जब हाथ, पैर, वाणी आदि का असंयम समाप्त हो जाता है तब मानना चाहिए कि धर्मध्यान का अवतरण हुआ है। ये दो बाहरी लक्षण हैं। तीसरा लक्षण है—श्वास की मंदता। श्वास तेज है तो समझ लेना चाहिए कि धर्म-ध्यान में प्रवेश नहीं हुआ है। श्वास मंद है तो धर्म-ध्यान घटित हो रहा है। यह कसौटी जैन आचार्यों की ही नही है, हठयोग की भी यही कसौटी है। श्वास इतना मंद हो जाता कि पता ही नहीं चलता कि वह चल रहा है। इस प्रकार श्वास की मंदता, वृत्तियों की स्थिरता, व्यवहार मे उत्तेजित नहीं होना—ये सब कसौटिया है। सामान्य लोग साधक का यही अंकन करते हैं कि उसका व्यवहार कैसा है ? अगर साधक का व्यवहार क्रोधपूर्ण और छलनापूर्ण है तो उसमें धर्म-ध्यान घटित नहीं हुआ है।

इस बात को भी समझना जरूरी है। ध्यान करने वाले की वृत्तियां शांत और व्यवहार अनुत्तेजित होना ही चाहिए।

धर्म-ध्यान शुद्ध लेश्याओं के आलंबन से होता है। तैजस, पद्म और शुक्ल—ये शुद्ध लेश्याएं हैं। ये जितनी होती हैं, उतना ही धर्मध्यान होता है। इन लेश्याओं के अभाव मे राग-द्वेष आ जाता है। तब धर्म-ध्यान धर्म-ध्यान नहीं रहता। तैजस लेश्या का काम है—आनन्द का अनुभव कराना, सुखासिका। इतनी सुखासिका कि पौद्गलिक जगत् में उसकी कोई तुलना नहीं है। एक वर्ष तक सम्यक् प्रकार से तेजोलेश्या की साधना करने वाला सर्वार्थसिद्ध के देवों के सुखों का अतिक्रमण कर देता है। पद्मलेश्या से शांति प्रकट होती है। मन की इतनी शांति, कषायों की इतनी शांति कि उसकी कोई सीमा नहीं रहती। शुक्ल लेश्या से वीतरागता, कषायों की निर्मलता, मन की निर्मलता, चित्त की शुद्धि प्रकट होती है।

जो व्यक्ति आनंदित रहता है, निरंतर आनन्द का अनुभव करता है तो समझ लेना चाहिए कि धर्म-ध्यान जीवन मे उतरा है। जीवन यदि शांति से ओतप्रोत हो तो मानना चाहिए कि धर्म-ध्यान जीवन में व्याप्त है। चित्त की निर्मलता हो, कोई प्रवंचना न हो, ठगाई न हो, आगे कुछ पीछे कुछ—ऐसा वर्ताव न हो तो धर्मध्यान का अवतरण समझ लेना चाहिए।

समत्व

जैसे-जैसे ध्यान की क्षमता विकसित होती है, चित्त की स्थिरता जैसे-जैसे बढ़ती है, वैसे-वैसे मन की क्षमता बढती जाती है। मन चैतन्य और शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। चैतन्य का अखंड सूर्य हमारे भीतर विद्यमान है। अनन्त शक्ति का स्रोत हमारे भीतर है। बाहर उतनी ही शक्ति आती है, जितना माध्यम उसे प्राप्त होता है। कोई भी व्यक्ति भार उतना ही उठा पाता है, जितनी उसमें क्षमता होती है। बैलगाड़ी जितना भार वहन करती है, जलपोत उससे हज़ारों गुना भार वहन कर सकता है। जलपोत जितना भार वहन करता है, नौका उतना भार नहीं उठा सकती। जितनी-जितनी क्षमता, उतना ही भार-वहन। चंचल मन थोड़ा भार ही उठा सकता है, थोड़ा प्रकाश ही दे सकता है। उसमे इतनी ही क्षमता है। जब मन स्थिर होता है, चंचलता समाप्त होती है, ध्यान की क्षमता बढ़ती है, तब मन में शक्ति को वहन करने की क्षमता का विकास होता है और ज्ञान की ज्योति को प्रकट करने की क्षमता भी बढ़ जाती है। विकसित मन हमारे सामने हज़ारों संभावनाएं प्रकट कर देता है। जब ध्यान की क्षमता बढ़ती है तब मन में विशेष प्रकार के चैतन्य का जागरण होता है। वह है—समत्व। समत्व की प्रज्ञा जागृत होती है। शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है; शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है—जब यह भेदज्ञान पुष्ट होता है तब एक बिंदु ऐसा आता है जिससे आगे का विकास प्रारंभ हो जाता है। वह है समत्व की प्रज्ञा। यह अध्यात्म-विकास की दूसरी भूमिका है। इसका विकास प्रारंभ हो जाता है। इस मोड़ से जीवन का नया अध्याय शुरू हो जाता है। इसमें हेय को जानने की ही नहीं, किंतु हेय को छोड़ने की भी क्षमता आ जाती है।

जब समत्व जागता है, जब मन समत्व मे प्रतिष्ठित होता है, तब संतुलन की प्राप्ति होती है। संतुलन का अर्थ है—अहिंसा। अहिंसा का अर्थ है—संतुलन।

अध्यात्म-जगत् में संतुलन पर महत्त्वपूर्ण खोजें हो चुकी हैं। विज्ञान ने अब इस पर खोज प्रारंभ की है। विज्ञान की एक शाखा है—इकोलॉजी (Ecology)। इसका अर्थ है—पर्यावरण का विज्ञान। वैज्ञानिकों ने इस बात पर ध्यान दिया कि प्रकृति का यदि कोई भी अंश अस्त-व्यस्त रहता है तो प्रकृति का सारा चक्र ही अस्त-व्यस्त हो जाता है। क्योंकि प्रकृति का प्रत्येक अंश, प्रत्येक अवयव उसका महत्त्व-पूर्ण हिस्सा है। वह महत्त्वपूर्ण इकाई है। वह टूटता है तो समूचा चक्का ही बेकाम हो जाता है।

पहले के जमाने में मनुष्य पर ही ध्यान था और यह माना जाता था कि मनुष्य ही सब कुछ है। फिर दूसरे प्राणियों पर ध्यान गया कि मनुष्य के लिए पशु उपयोगी हैं। पशुओं का मूल्यांकन किया गया। किंतु इस 'इकोलॉजी' ने एक नया आयाम खोल दिया। यह बात मान्य हो गई कि प्रकृति का छोटा-मोटा—प्रत्येक अवयव उपयोगी है, अनिवार्य है। अभी-अभी पर्यावरण-विशेषज्ञों ने आंकड़े प्रस्तुत करते हुए कहा कि आज वनस्पति की बीस हजार उपजातियां उपलब्ध हैं। यदि उनकी सुरक्षा नहीं की गई तो बहुत बड़ी निधियां समाप्त हो जाएगी। आज तक यह जाना ही नही गया कि किस वनस्पति में क्या विशेषता है? ऐसी वनस्पतियां है जिनमें कैंसर जैसे असाध्य रोग को मिटाने की क्षमता है। ऐसी वनस्पतियां है जो मनुष्य के शरीर को संतुलित रखती है, रक्तचाप को संतुलित रखती है। यदि ये वनस्पतियां नष्ट हो गई तो मनुष्य बहुत बड़े लाभ से वंचित रह जायेगा। संतुलन परम आवश्यक है। एक जंगल कटता है तो वैज्ञानिक चिंतित हो उठते है, कि केवल जंगल ही नही कटता, उसके साथ-साथ वर्षा की कमी हो जाती है, रेगिस्तान बढ़ जाता है, अनाज की कमी हो जाती है। न जाने और कितनों पर असर होता है। एक के साथ अनेक जुड़े हुए हैं।

इस पर्यावरण के विज्ञान को अध्यात्म के साधकों ने बहुत पहले ही खोज लिया था। उन्होंने समत्व के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए कहा—'किसी को मत मारो, चोट मत पहुंचाओ, परिताप मत करो, क्लेश मत दो। सबको समान समझो। सबके साथ समत्व का व्यवहार करो।' इतना ही पर्याप्त नहीं है। समत्व का विकास होता है तो यह बात प्राप्त हो जाती है कि विषमता पैदा मत करो। उन्होंने कहा—अजीव का भी संयम करो। जैसे जीव वैसे अजीव। एक तिनके को भी मत तोडो। उन्होंने एक सूक्ष्म बात यही कही कि जीव को मत मारो किंतु जिसमें जीव पैदा करने की क्षमता है, जिसमें उत्पादक शक्ति है, उसे भी नष्ट मत करो। यह समत्व और संतुलन का सिद्धांत जगत् का सार्वभौम नियम है। इसे नही तोड़ने की बात बहुत ही सूक्ष्म है। मनुष्य पर्यावरण के चक्र का एक अंश है। यदि किसी भी अवयव पर कोई प्रभाव होता है तो वह स्वयं पर भी होता है और दूसरों पर भी होता है। क्या मकान की एक-एक ईंट को तोड़ने

वाला समूचे मकान को नष्ट नहीं कर देता ? क्या नींव को क्षति पहुंचाने वाला समूचे मकान को ही भूमिसात नहीं कर देता ? समत्व का सिद्धांत है कि संतुलन रखो। कहीं भी विषमता पैदा मत करो। न चेतन जगत् में विषमता पैदा करो और न अचेतन जगत् में विषमता पैदा करो। तुम्हारे कारण कहीं भी विषमता पैदा न हो। पूर्ण समत्व में रहो, संतुलन रखो।

समत्व का दूसरा अर्थ है—तटस्थता। तुम तटस्थ रहो। एक ओर मत झुको। इस संसार में कभी कुछ अप्रिय घटित होता है और कभी कुछ प्रिय घटित होता है। कभी वह घटित होता है जो हम चाहते हैं और कभी वह घटित होता है जो हम नहीं चाहते। चाहा भी घटित होता है, अनचाहा भी घटित होता है। अब यदि इसके साथ हमारे मन का चक्का भी घूमता रहेगा तो इतनी उलझनें बढ़ जायेंगी कि अन्ततः आत्महत्या के सिवाय कोई विकल्प नहीं बचेगा। एक आदमी का जब मनचाहा होता है तब वह अत्यंत प्रसन्न रहता है। जब वह देखता है कि विश्व के इस क्षितिज पर अनचाहा भी घटित हो रहा है तब उसका मन उलझनों से भर जाता है। इन उलझनों से पार पाने के लिए वह आत्महत्या को कारगर मान बैठता है।

एक सुन्दरी है। फ़िल्म अभिनेत्री या नर्तकी है। वह अभी यौवन की दहलीज पर है। राष्ट्र या विश्व मे उसका सम्मान होता है। वह विश्व-प्रसिद्ध हो जाती है। उसकी अवस्था बदलती है। वह यौवन को पारकर वृद्धावस्था की ओर बढ़ती है। अब उसे लगता है कि उसे कम सम्मान मिल रहा है। उसका आकर्षण कम हो गया है। जो प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि प्राप्त थी, वह धीरे-धीरे कम हो रही है। लोगों में जो प्रियता थी वह कम हो रही है, तब वह सुन्दरी संतुलन खो बैठती है और अपने जीवन को समाप्त करने पर तुल जाती है। इस प्रकार अनेक महिलाओं ने आत्महत्या कर अपनी जीवन-लीला समाप्त की है। ऐसा क्यों होता है ? यह इसलिए नहीं होता कि पहले जो सम्मान प्राप्त था वह आज नहीं है, जो प्रियता या आकर्षण था, वह आज नहीं है। किंतु यह इसलिए घटित होता है कि मन के साथ एक रागात्मक भाव जुड़ा था, उसकी अब पूर्ति नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में मन को इतनी गहरी ठेस लगती है कि व्यक्ति तिलमिला उठता है, वह अपने आपको संभाल नहीं पाता है।

एक व्यक्ति के पास करोड़ों की संपत्ति है। क्या उसके लिए इतनी संपत्ति उपयोगी है ? नहीं। वह उस संपत्ति को भूमि में गाड़कर रखेगा। क्या उसका कोई उपयोग है ? फिर भी मन में एक रागात्मक भाव जुड़ा हुआ है कि यह मेरा है। यह मेरी संपत्ति है। यह भाव उसे संतोष दे रहा है। मानसिक संतोष पलता है, मानसिक तृप्ति मिलती है। जिस दिन संपत्ति चली जाती है या उस पर रहा हुआ स्वामित्व छूट जाता है तब आदमी अस्त-व्यस्त, आकुल-व्याकुल

हो जाता है। स्वामित्व छूटने से क्या अंतर पड़ा ? कोई भी अंतर नहीं पड़ा। वह संपत्ति तो वहीं की वहीं पड़ी है। वैसे की वैसी है। केवल स्वामी बदला है। किंतु मन का वह धागा टूट गया। अब वह एकांत में या जंगल में जाकर रहने की सोचता है। देश को छोड़ देने की बात सोचता है या शरीर को छोड़ देने की बात सोचता है। यह सब इसलिए होता है कि व्यक्ति में तटस्थता नहीं है। जब व्यक्ति तटस्थ नहीं होता तब वह प्रत्येक परिस्थिति के साथ अपने आपको जोड़ देता है। वह मन को परिस्थति से अलग नहीं रख पाता। जब समत्व की अवस्था जागती है तब तटस्थता भी जाग जाती है। जो व्यक्ति तटस्थ होता है वह लाभ-अलाभ जो भी घटित होता है उसे जान लेता है, उसे देख लेता है, पर उसमें लिप्त नहीं होता। अपने को उसके साथ नही जोड़ता। जान लेता है, भोगता नही। जानने वाला न दु.खी होता है और न सुखी होता है। भोगने वाला दु.खी भी होता है और सुखी भी होता है। दोनों भार उसे उठाने पड़ते हैं। समत्व की दूसरी अवस्था है—तटस्थता।

समत्व की तीसरी अवस्था है —संयम। समत्व के साथ संयम अपने आप आता है। संयम की शक्ति जागती है तब व्यक्ति को यह नहीं लगता कि जो पदार्थ है वे सब उसके भोग के लिए है। ईश्वरवादी कहते है कि यदि हम इन पदार्थों का भोग नहीं करें तो ईश्वर ने इन्हे बनाया ही क्यों ? ऐसा लगता है कि ईश्वर ने सारी सृष्टि ही उनके लिए निर्मित की है। वे स्वयं इस तर्क पर नही टिकते कि यदि दूसरे उनका भोग करें तो उन्हें दु.ख क्यों होता है ? वे यह क्यों नहीं सोचते कि ईश्वर ने उन्हे भी दूसरे के भोग के लिए बनाया है। उन्हे यह तर्क अच्छा नही लगता। मासाहारी व्यक्ति से कहा जाये कि मांस खाना मानसिक दृष्टि से हितकर नही है। उससे चेतना के विकास मे अवरोध उत्पन्न होता है। वे प्रतितर्क देते है कि मांस यदि खाने की वस्तु नही है तो ईश्वर ने इसे बनाया ही क्यों ?

किंतु जिस व्यक्ति मे समत्व का विकास होता है उसमे सहज ही संयम का विकास हो जाता है। उसमे पदार्थ के प्रति मात्र उपयोगिता की बुद्धि रहती है, अनिवार्यता की बुद्धि रहती है। वह मानता है कि जीवन को टिकाए रखना है तो उसे जो चाहिए, अनिवार्य रूप से जो चाहिए, उतना मात्र ही पर्याप्त है। शेष की कोई अनिवार्यता नही है। उसका संयम सध जाता है। उसमे संतुलन, तटस्थता और संयम—ये तीनों अवस्थाएं प्रकट होती है।

आप ऐसा न माने कि समत्व की चेतना जागते ही सब कुछ एक साथ घटित हो जाता है। बहुत बड़े-बड़े अवरोध आते है। कषायों को उपशांत या क्षीण करते-करते समत्व की चेतना जागती है। किंतु सारे कषाय उपशांत या क्षीण नहीं हो जाते। उन अवशिष्ट कषायों से अवरोध उत्पन्न होते हैं और क्षीण कषायों से समत्व जागता है। अवशिष्ट कषाय अपना प्रभाव डालते हैं। वे समत्व की प्रज्ञा मे अवरोध उत्पन्न करते है। कोई भी साधक समत्व की प्रज्ञा को प्राप्त कर ले

इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह समत्व की प्रज्ञा में स्थित हो गया है या स्थित हो ही जाता है, ऐसा नहीं होता। एक बार अंतर्दृष्टि के जाग जाने पर, समत्व की प्रज्ञा के जाग जाने पर भी साधक को खतरों से सावधान रहना चाहिए। जिस धर्म-ध्यान से समत्व की यह प्रज्ञा जागृत हुई, उसे और अधिक विकसित नहीं किया गया, जिस लेश्या से समत्व की यह प्रज्ञा जागी उसे निरंतर आगे नहीं बढ़ाया गया तो खतरा है कि भीतर के ही शत्रु इतना भारी आक्रमण कर दें कि साधक को पीछे लौटने के लिए विवश होना पड़े। इसलिए निरंतर अप्रमाद, जागरूकता, अंतर्जागरूकता की स्थिति बनी रहनी चाहिए। आगे से आगे ध्यान का मार्ग विकसित रहे, शुभ लेश्याएं विकसित होती रहें—यह अपेक्षा है।

जब समत्व की प्रज्ञा जागती है तब अध्यात्म की दूसरी भूमिका में हमारी गति प्रारंभ हो जाती है। उस समय हम कैसे जानें कि इस व्यक्ति में समत्व जागा है या नहीं? सामायिक हुआ है या नहीं? इसे जानने की व्यावहारिक कसौटी भी है। वह यह है कि उस व्यक्ति में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अक्रोध, अमान, अमाया, अलोभ, अकलह आदि का अवतरण होता है। सामायिक का अर्थ है—समस्त सावद्य प्रवृत्तियों का विसर्जन, समस्त पापों का अपनयन। समत्व जागता है तो सावद्ययोग अपने आप व्यक्त हो जाते है। जो समत्व के लक्षण हैं, वे प्रकट हो जाते हैं। इन लक्षणों से जान लिया जाता है कि व्यक्ति में समत्व उतरा है। जैसे रोग का अपना एक लक्षण होता है वैसे ही आरोग्य का भी अपना एक लक्षण होता है। विषमप्रज्ञा का एक लक्षण होता है तो समत्वप्रज्ञा का भी एक लक्षण होता है। समत्वप्रज्ञा के जागने पर अहिंसा आदि का विकास अवश्य होगा। हम यह न मानें कि प्रथम चरण में ही व्यक्ति अहिंसा के शिखर पर पहुंच जाता है। किंतु अहिंसा की यात्रा जीवन में शुरू हो जाती है। सत्य का विकास शुरू हो जाता है। वह व्यक्ति वासनाओं से लिप्त नहीं होता। वासनाओं का संयम उसमें प्रकट होने लग जाता है। वह व्यक्ति पदार्थ में लिप्त नहीं होता। अकिंचनता की ओर उसकी गति होने लग जाती है। ईर्ष्या, अपवाद, उद्वेग, विषाद, घृणा—जितने मानसिक पाप है, दोष हैं, वे सारे दूर हट जाते हैं। उनके स्थान पर दूसरे गुण प्रकट हो जाते हैं।

समत्व की प्रज्ञा जाग जाने का दूसरा लक्षण है कि मन समाहित हो जाता है। जिस व्यक्ति को लगे कि उसका मन उलझनों से भरा है, मन समाहित नहीं है, तो समझ लेना चाहिए कि समत्व की प्रज्ञा जागी नहीं है। समत्व की प्रज्ञा जाग जाये और मानसिक उलझनों का भार भी बना रहे, यह संभव नहीं लगता। जब मन की समस्याएं सुलझने लगती हैं, अपने आप समाधान प्रस्तुत होता है तब मानना चाहिए कि समत्व का प्रभाव अभिव्यक्त हो रहा है। ऐसा व्यक्ति 'समाहितात्मा' कहलाता है। उसका मन पूर्ण समाहित होता है। समस्याएं आती

हैं, पर वे मन को उलझा नहीं पातीं। वे हट जाती हैं, दूर चली जाती हैं।

अध्यात्म की दृष्टि से मूलभूत तथ्य है—सामायिक—समत्व का आचरण। जब सामायिक स्थिर और दृढ होता है, तब पाप की समस्त धाराएं पश्चिमाभिमुख हो जाती हैं। समत्व के जागने पर लेश्याओं में भी परिवर्तन हो जाता है। लेश्याएं प्रकृष्ट, प्रकृष्टतर और प्रकृष्टतम होती चली जाती हैं। पदार्थ-निरपेक्ष आनन्द बढने लगता है। मन की निर्मलता, मन की शांति और मानसिक आनन्द—ये प्राप्त होते हैं।

अंतर्दृष्टि की अवस्था में धर्म-ध्यान का जो विकास होता है उससे और अधिक विकास इस अवस्था में हो जाता है। अध्यात्म विकास की पहली भूमिका में अपायविचय या विपाकविचय का चिंतन मात्र था। इस अवस्था में अपायों के त्याग की स्थिति प्राप्त हो जाती है। धर्म-ध्यान इतना स्थिर हो जाता है कि त्याग की भावना दृढ हो जाती है। इसमें अपायों को छोड़ने, आस्रवों को कम करने, संवर का विकास करने, निर्जरा की अधिकता यानी दोषों को क्षीण करने की क्षमता बढ जाती है और धर्म-ध्यान बहुत शक्तिशाली हो जाता है। इसके साथ-साथ शुक्ल-ध्यान की अनेक संभावनाएं बढ़ जाती हैं। शुक्ल-ध्यान का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अतींद्रिय बोध स्पष्ट होने लगता है, विपाकों के प्रति दृष्टि निर्मल बनती है, विराग मे प्रकर्ष आता है और पदार्थ के प्रति धारणा बदल जाती है।

अंतर्दृष्टि के जागने पर आत्मा का बोध तो होता है किंतु यह कोई चरम विकास नहीं है। समत्व की दृष्टि में जो विकास होगा वह भी कोई चरम विकास नहीं है। इस विकास को आप इतना-सा जानें कि एक बड़ा हॉल है किंतु उसमें कोई खिड़कियां नही हैं। वह अंधेरे से व्याप्त रहेगा। हमारी चेतना, हमारी शक्ति-मोह की मूर्च्छा से कषायों से इतनी आच्छन्न थी कि बाहर प्रकट नहीं हो पा रही थी। केवल मूर्च्छा की तरगें ही तरंगें व्याप्त थीं। हमने मूर्च्छा की सघन भीत मे कुछ खिड़कियां निकाल दीं, चेतना का प्रकाश बाहर आने लगा। अब मूर्च्छा मे सघन अंधकार करने की क्षमता नहीं रही। विकास प्रारंभ हो गया। विकास की पूर्णता तब होगी जब मोह की सारी दीवारें ढह जायेंगी, समूचे पर्दे हट जायेंगे, समूचा आवरण टूट जायेगा।

अंतर्दृष्टि से संपन्न व्यक्ति भी अप्रिय आचरण कर लेता है। समत्व की प्रज्ञा जाग जाने पर भी व्यक्ति अवांछनीय आचरण कर लेता है। यह तब तक करता है जब तक कि प्रमाद उस पर हावी होता है। किंतु महावीर ने कहा—समत्वदर्शी पाप नहीं करता, इसकी संगति कैसे होगी? इसका भी एक रहस्य है। या तो यह बात उस भूमिका पर कही गयी है जहा समत्व अपने चरम शिखर पर पहुंच जाता है। समत्व का चरम शिखर है—वीतरागता। समत्व का प्रारंभ होता है

संतुलन से और चरम परिणति होती है वीतराग में। एक है उपत्यका और एक है अधित्यका। उपत्यका तलहटी है और अधित्यका पर्वत का ऊपरी भाग है। जैसे हिमालय की तलहटी है तो उसका शिखर भी है। तलहटी भी हिमालय है तो शिखर भी हिमालय है। तलहटी हिमालय नहीं है, केवल शिखर ही हिमालय है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। समत्व की तलहटी भी समत्व है और समत्व का शिखर भी समत्व है। समत्व की तलहटी है संतुलन और समत्व का शिखर है वीतरागता। दोनों समत्व हैं। महावीर ने जो कहा कि समत्वदर्शी कोई पाप नहीं करता, इसका आशय है कि जो साधक समत्व की चोटी वीतरागता पर पहुंच चुका है, वह कोई पाप नहीं करता। जो उस शिखर पर चढ़ने की तैयारी कर रहा है, जो अभी तलहटी पर ही खड़ा है वह पाप नहीं करता, इसका इतना-सा तात्पर्य हो सकता है कि उस साधक के मन में पाप न करने का संकल्प जाग जाता है। उस संकल्प के साथ उसकी यात्रा प्रारंभ होती है। वह आरोहण प्रारंभ करता है। आरोहण करते-करते एक दिन वह समस्त बाधाओं को चीर कर समत्व के शिखर पर पहुंच जाता है, वीतरागी बन जाता है। वहां पहुंचकर फिर वह कभी पाप नहीं करता। सारी पापमय प्रवृत्तियां छूट जाती हैं।

समत्व की प्रज्ञा जाग जाने पर हमें एक बोध मिलता है कि हमने ध्यान और धारणा के द्वारा समत्व की प्रज्ञा को जगा लिया है। अनुप्रेक्षा, भावना और ध्यान से अंतर्दृष्टि के साथ-साथ समत्व की प्राप्ति भी कर ली, किंतु शिखर अभी भी दूर है। हम शिखर के अभिमुख अवश्य हुए हैं, पर शिखर पर पहुंचे नहीं हैं। यात्रा चालू है। आरोहण चालू है। मार्ग लंबा है। हमें निरंतर चलना है। इसलिए ध्यान की धारा निरंतर चलती रहे, यह अभ्यास सतत चालू रहे और तब तक चालू रहे जब तक कि हम समत्व के शिखर पर न पहुंच जाएं और वहां पहुंचकर हम विजय की ध्वजा न फहरा दें।

अप्रमाद, वीतराग और केवली

साधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—जागरूकता। जागना बहुत महत्त्व की बात है। मनुष्य रात को सोता है और दिन में जागता है। सोने का भी एक समय है और जागने का भी एक समय है। पर अज्ञानी कभी नहीं जागता, वह सदा सोता है। ज्ञानी कभी नहीं सोता, वह सदा जागता है।

यह सतत जागृति की अवस्था ही अप्रमाद है। चैतन्य की धारा अविच्छिन्न रहती है, उसमें राग-द्वेष की धारा नहीं मिलती तब अप्रमाद घटित होता है। इस स्थिति को बहुत सावधानी, दृढ़संकल्प और अध्यवसाय से बनाए रखना होता है। पूर्वार्जित कर्म का उदय, कषाय का दबाव और संज्ञा का प्रभाव—ये सब मिलकर चैतन्य के प्रति होने वाली सतत अनुभूति का क्रम तोड़ देते है। साधक फिर प्रमाद मे आ जाता है। यह प्रमाद और अप्रमाद का क्रम लम्बी अवधि तक चलता रहता है।

अप्रमाद अवस्था में हिंसा, असत्य आदि सभी दोष उपशान्त हो जाते हैं। जागरूकता के कारण आंतरिक बंधन शिथिल होने लग जाते है। यह समत्व और वीतरागता के मध्य का सेतु है। यह जैसे-जैसे स्थिरपद होता है, वैसे-वैसे समत्व सुस्थिर और वीतराग भाव विकसित होता है।

राग-द्वेष-युक्त क्षण अशुद्ध चैतन्य के अनुभव का क्षण है। राग-द्वेष-मुक्त क्षण शुद्ध चैतन्य के अनुभव का क्षण है। शुद्ध चैतन्य के अनुभव द्वारा ही चैतन्य को शुद्ध (आवरण-मुक्त) किया जा सकता है। अध्यात्म के साधक का साध्य होता है चैतन्य को निराकरण करना। उसका साधन है जानना-देखना। साधना-काल में जो साध्य होता है, वह सिद्धिकाल में स्वभाव बन जाता है। इस तथ्य को इस भाषा में भी प्रस्तुत किया जा सकता है—उपादान को ही साधन बनाकर उसे उपलब्ध किया जा सकता है। आत्मा का स्वभाव है चैतन्य। उसमें न राग है और

न द्वेष है। वह न राग से रक्त होता है और न द्वेष से द्विष्ट। उसमें मोह नहीं है। वह मोह से मूढ़ नहीं होता। कर्म के संयोग से उसमें राग, द्वेष और मोह—ये सब पलते हैं। मनुष्य का चैतन्य राग, द्वेष और मोह के साथ ही सक्रिय रहता है। जागरूकता का विकास होने पर जैसे-जैसे राग-द्वेष-मुक्त क्षण का अनुभव बढ़ता है, वैसे-वैसे कषाय के बंधन शिथिल होते हैं और वीतराग भाव प्रकट होता है।

शुद्ध चैतन्य का अनुभव ही वीतरागता है। यह वीतरागता सापेक्ष है। अवीतरागता के अनुभव के पश्चात् शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है। इसलिए उस अवस्था को वीतराग अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में कषाय का अंश भी विपाक में नहीं रहता। वह सर्वथा क्षीण हो जाता है अथवा सर्वथा उपशांत। जिसका कषाय उपशांत होता है वह पुन: अवीतराग हो जाता है। जिसका कषाय क्षीण हो जाता है, वह वीतराग अवस्था का अनुभव कर केवली हो जाता है।

केवली-अवस्था में ज्ञान और दर्शन निराकरण होने के कारण अनंत हो जाते है, मोह क्षीण होने पर वीतरागता अनन्त हो जाती है और अन्तराय के क्षीण होने पर शक्ति अनन्त हो जाती है। इस अनन्त-चतुष्टयी का अनुभव ही आत्मा के स्वभाव का अनुभव है। यही आत्म-साक्षात्कार या आत्मोपलब्धि है।

केवली अवशिष्ट आयु का भोग कर मुक्त हो जाता है। वह मृत्यु के बंधन से मुक्त हो अमृत बन जाता है। उसके स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर भी छूट जाते हैं। वह सर्वथा अमूर्तिक हो आत्मा के सहज-स्वरूप में स्थित हो जाता है।

३

पद्धति और उपलब्धि

- अन्तर्यात्रा
- तपोयोग
- प्रेक्षा ध्यान
- भावना योग
- भावधारा और आभा-मंडल
- चैतन्य-केन्द्र
- तेजोलेश्या : कुंडलिनी
- आंतरिक उपलब्धियां

अन्तर्यात्रा

अध्यात्म-साधना का अर्थ है—भीतर की यात्रा। हम बाहर से बहुत परिचित हैं। हमारे जीवन की पूरी-की-पूरी यात्रा ही बाहर की ओर हो रही है। हमारी शिक्षा भी हमें बाहर की ओर ले जाती है और हमारे अनुसंधान के सारे प्रयत्न भी हमें बाहर ही भटकाते हैं। भीतर की यात्रा करने का कोई अवकाश ही नहीं है। व्यक्ति बाहर में इतना व्यस्त है कि उसे कभी यह सोचने का मौका ही नहीं मिलता कि उसे भीतर की यात्रा भी करनी चाहिए। सचाई यह है कि बाहर में जितना है उससे बहुत अधिक है भीतर में। जो भीतर की यात्रा कर लेता है उसे बाहर का सत्य असत्य जैसा प्रतिभाषित होता है। किंतु भीतर की यात्रा करने का अवसर ही जब जीवन मे नहीं आता तब यह जानने को ही नहीं मिलता कि भीतर में कोई सार है या भीतर में कुछ ऐसा है जिसे देखना चाहिए, जानना चाहिए, अनुभव करना चाहिए। इसलिए अध्यात्म-साधना जरूरी है। इसके माध्यम से व्यक्ति अपने अन्तराल तक पहुंच सकता है। इसलिए शिक्षा और शोध के साथ अध्यात्म-साधना बहुत जरूरी है। जैसे दिन भर का थका हुआ पक्षी अपने घोंसले मे आकर विश्राम करता है वैसे ही बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से त्रस्त या थका हुआ आदमी कहीं विश्राम ले सके, कही शांति का अनुभव कर सके, वह स्थान हो सकता है केवल अध्यात्म, केवल भीतर का प्रवेश। जो बाहर से थका हुआ होता है उसे बाहर की कोई भी वस्तु विश्राम नहीं दे सकती, शांति नहीं दे सकती। दो दिशाएं हैं—एक बाहर की और एक भीतर की। दोनों एक-दूसरे की प्रतिपक्षी दिशाएं हैं।

आज अध्यात्म को एक नया आयाम मिल रहा है। कुछ ऐसा समय आया था जिसमें अध्यात्म की विस्मृति हो गयी थी। धर्म को अबौद्धिक मान लिया गया था। लोगों ने समझ लिया था कि धर्म उस व्यक्ति को करना चाहिए जो अन्य दूसरी दिशाओं में सक्षम न हो। या धर्म के पास वे लोग जाएं जिनकी

बौद्धिक क्षमता विकसित न हो। इसका अर्थ यह हुआ कि बौद्धिक आदमी के पास धर्म नहीं या उसके लिए धर्म उपयुक्त नहीं। बुद्धि धर्म के लिए एक दीवार बन गयी। यह सही है कि धर्म या अध्यात्म तक पहुंचने के लिए अनुभव ही सहायक हो सकता है, बुद्धि नहीं। बुद्धि बाधा देगी, क्योंकि उसके पास अनुभव नहीं है। जो बात अनुभव के द्वारा जानी जाती है या जिस भूमिका तक अनुभव हमें पहुंचा सकता है वहां तक बुद्धि हमें नही पहुंचा सकती। यहां बुद्धि का स्तर नीचे रह जाता है। जब तक स्वयं हम इसका अनुभव नहीं कर लेते तब तक बुद्धि भी सहयोग नहीं करेगी। वह हमें सहारा तो देगी पर अनुभव के बाद। जब हम अनुभव कर लेते हैं तब बुद्धि भी हमें आगे बढ़ने के लिए सहयोग करती है, किंतु जब तक हमारा कोई अनुभव नही है तब तक बुद्धि तर्क प्रस्तुत करेगी, एक दीवार खड़ी करेगी, उसमें सहयोगी नही बनेगी। अपेक्षा है अनुभव की। अध्यात्म की समूची साधना ही अनुभव की साधना है। इसलिए मौन और अकर्म की बात कही जाती है। शरीर का कार्य भी मत करो। शिथिलीकरण कर, शरीर का विसर्जन कर, कायोत्सर्ग से शरीर को त्यागो। शरीर की प्रवृत्तियां मत करो। मन की प्रवृत्ति मत करो। चिंतन मत करो। अकर्म, अबात और अचिंतन—ये सारी उल्टी दिशाएं हैं। बुद्धि का काम है—खूब बोलो, सोचो, प्रयत्न करो, चिंतन करो। बुद्धि मनुष्य को कर्म की ओर ले जाती है। अध्यात्म मनुष्य को अकर्म की ओर ले जाता है। यहां अकर्म ही है, कहीं भी क्रिया नहीं है। बुद्धि को यह पसंद नही है। बुद्धि इसका समर्थन भी नहीं करती, किंतु जब अनुभव इसकी सत्यता को प्रमाणित कर देता है, तब बुद्धि भी सक्रिय हो जाती है। वहां बुद्धि के द्वारा प्रस्तुत तर्क भी व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि अनुभव सबसे बड़ा प्रमाण है। तर्कशास्त्र कहता है—'प्रत्यक्षं सर्वज्येष्ठं प्रमाणम्'—प्रत्यक्ष सर्वज्येष्ठ प्रमाण है। प्रत्यक्ष के द्वारा जो बात जान ली जाती है, फिर उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अनुभव तो हमारा प्रत्यक्ष है। जब हमने अनुभव के द्वारा जान लिया तब खंडन करने के लिए हमारे पास कोई तर्क सक्षम नही होता। साधना का समूचा मार्ग, भीतर में प्रवेश का मार्ग प्रत्यक्ष का मार्ग है, अनुभव का मार्ग है। हम भीतर में चेतना के अन्तस्तल में प्रवेश करके उसकी गहराइयों में जाकर कुछ साक्षात् करते हैं, अनुभव करते है तो अनुभव के बाद कोई भी तर्क उसे खंडित नहीं कर सकता। जिस बात को मैं प्रत्यक्ष जान रहा हूं उसके लिए मुझे कोई तर्क दे तो मैं कभी स्वीकार नहीं करूंगा और मैं यह कहूंगा कि तुम तर्क के द्वारा यह समझाने का प्रयत्न कर रहे हो किंतु मैं इसे प्रत्यक्ष कर चुका हूं। प्रत्यक्ष के सामने तुम्हारा तर्क व्यर्थ है, किसी काम का नहीं है। एक आदमी मिश्री खा रहा है। वह मीठी है, इसका वह अनुभव कर रहा है। अब कोई दूसरा आदमी तर्क से सिद्ध करना चाहे कि नहीं, यह मीठी नहीं है, कड़वी है। चाहे

कितना ही बड़ा तार्किक हो किंतु जो प्रत्यक्षतः अनुभव कर रहा है तो क्या उसका स्वाद, उसका अनुभव तर्क के द्वारा बाधित हो सकता है ? नहीं हो सकता। जिसने कभी मिश्री का स्वाद न चखा हो उसे तो कोई समझाना चाहे कि यह नमकीन होती है या कड़वी होती है, तब तर्क की प्रबलता के आधार पर वह मान भी सकता है क्योंकि उसने कभी उसका अनुभव नहीं किया है। किंतु प्रत्यक्षतः अनुभव करने वाला इसे कभी नहीं मानेगा चाहे दुनिया का बड़े से बड़ा तार्किक भी क्यों न हो। साधना का समूचा मार्ग अनुभव का मार्ग है, यह अनुभव की दिशा है। इस दिशा में जितने आयाम आए हैं वे सारे के सारे अनुभव के ही आयाम हैं, दूसरा कोई आयाम नहीं है। जब हम चेतना की समाधि में जाते हैं तो हमारे पास अनुभव के सिवाय कुछ बचता ही नहीं है। तर्क हमेशा ही व्यवधान में होता है। जहां परोक्ष होता है, वहां तर्क होता है। प्रत्यक्ष में तर्क के लिए कोई अवकाश नहीं है। जहां दूरी है, सूक्ष्म है, जहां बीच में कोई माध्यम है वहां तर्क के लिए अवकाश हो सकता है। पर जहां कोई व्यवधान नहीं, दूरी नहीं, वहां कोई तर्क नहीं होता। जब हम अन्तर्यात्रा में ध्यान की स्थिति में होते हैं, हमारा भीतर में प्रवेश होता है, वहां हम चैतन्य के साथ सर्वथा एकीभूत हो जाते हैं। वहां चैतन्य के प्रति हमारी कोई दूरी नहीं होती। उस स्थिति मे तर्क को कोई स्थान नहीं होता । केवल अनुभव, केवल साक्षात् और प्रत्यक्षीकरण। इस प्रत्यक्षीकरण की समूची प्रक्रिया में कोई तर्क नहीं होता। इसमें केवल अनुभव ही काम करता है। हम व्यक्ति-व्यक्ति के अनुभव को जागृत करें और उसे परोक्ष के मार्ग से हटाकर प्रत्यक्ष की अनुभूति मे ले जाएं। जब तक दूसरा रहेगा तब तक तर्क के लिए अवकाश रहेगा। जब कर्त्ता अलग और कर्म अलग है तो दूरी है। एक व्यक्ति मैं हूं और एक मेरे लिए दूसरा है। जहां दूसरा है वहां तर्क और संदेह होगा, विवाद होगा, संघर्ष होगा। सब कुछ होगा। किंतु जहां 'मैं' और 'दूसरे' का कोई अंतर नहीं रहता, जब मेरा स्वयं का अपना अनुभव ही मेरे लिए सब कुछ बन जाता है, वहां कोई तर्क नहीं, कोई संदेह नहीं, कोई विवाद नहीं, कुछ भी नहीं। जितना मैंने जाना, जितना मैंने अनुभव किया, वह मेरा अपना है, पराया कुछ भी नहीं है। जहां पराया नहीं है वहां कोई संघर्ष नहीं है, टकराहट नहीं है।

अन्तर्यात्रा का सबसे पहला कार्य है कि व्यक्ति को अनुभव के मार्ग में प्रस्थित कर देना, उसे अनुभव करा देना। जब तक अनुभव की दिशा उद्घाटित नहीं होती तब तक कोई भी अध्यात्म की साधना नहीं चल सकती। साधना का पहला क्रम है—साधना के जिज्ञासु को, छोटा या बड़ा, कोई न कोई अनुभव करा देना चाहिए जिससे उसकी प्रेरणा जागृत हो कि यह मार्ग मेरे लिए श्रेयस्कर है। यतिभोज ने लिखा है—आचार्य का कर्तव्य है कि वे शिष्य को कोई न कोई अनुभव करा दें, जिससे कि वह उस दिशा में गति कर सके। जो अनुभव की प्रक्रिया है,

उससे जो गुज़र जाता है, उसे फिर उपदेश की जरूरत नहीं होती।

'उद्देसो पासगस्स नत्थि'—यह साधना का सूत्र है। साक्षात् द्रष्टा के लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। वह परोक्षद्रष्टा के लिए होता है।

साधना करने वाले को चाहिए कि सबसे पहले वह अपने शरीर-यंत्र को समझे। जो शरीर को नहीं समझता, उसका साधना-पथ प्रशस्त नहीं होता। शरीर बहुत बड़ा यंत्र है। विश्व की बड़ी से बड़ी फैक्टरी भी इसके समक्ष छोटी पड़ती है। इसकी संरचना जटिल है किन्तु मस्तिष्क की संरचना उससे भी जटिल है। इसके अरबों-खरबों प्रकोष्ठ है। हज़ारों-लाखों-करोड़ों स्मृतियों के प्रकोष्ठ। हज़ारों-लाखों आवेशों के प्रकोष्ठ। उनकी स्वचालित व्यवस्था है। सारी क्रियाएं अपने आप होती है। इन सबको समझे बिना साधना का मार्ग प्रशस्त नहीं होता।

आज के शरीर-विज्ञान ने हमारे शरीर मे अनेक ग्रन्थियों का प्रतिपादन किया है। आज से हज़ारों वर्ष पहले योग के आचार्यों ने जिन चक्रों का प्रतिपादन किया था उन्हीं स्थानों का वर्तमान शरीर-विज्ञान प्रतिपादन करता है। दोनों में बहुत साम्य है। आज का विज्ञान जिसे 'सिक्रिशन ऑफ ग्लैन्डस्' कहता है उसे ही योग के आचार्य चक्रो का विकास तथा अमृत का झरना कहते है। कितने निकट की कल्पना है !

चिकित्सा की अनेक पद्धतियां प्रचलित है। वे सब बाहर की हैं। एक चिकित्सा-पद्धति भीतर की है। वह है मन के द्वारा चिकित्सा। आत्मा के द्वारा चिकित्सा हो सकती है, संकल्प के द्वारा चिकित्सा हो सकती है। हम अनेक रोगों को इस चिकित्सा के माध्यम से मिटा सकते है। आज मनुष्य चाहता है कि सुबह बीमार हो तो शाम को स्वस्थ हो जाए। ऐसी चिकित्सा वह चाहता है। उसमें धैर्य नहीं है। वह महीनो तक दवाई लेना नहीं चाहता। मानसिक सकल्प वर्तमान में लाभ का अनुभव कराता है। जिस क्षण संकल्प बलवान होता है उसी क्षण से परिवर्तन होने लग जाता है। यह है प्राणिक प्रक्रिया, प्राण की चिकित्सा, या मन की चिकित्सा या आत्मा की चिकित्सा। क्योंकि प्राण और मन दोनों ही साथ-साथ चलते हैं। जहां प्राण जाता है, वहां मन जाता है और जहां मन जाता है वहां प्राण जाता है। हम अन्तःप्रेक्षा की, अन्तर्मन की बात करते हैं। अध्यात्म का अर्थ ही है भीतर में देखना, भीतर को जानना, भीतर की यात्रा करना। भीतर देखने का या भीतर यात्रा करने का अर्थ ही है—प्राण को भीतर ले जाना। प्राण को भीतर ले जाने का अर्थ है कि जो ऊर्जा बाहर की ओर प्रवाहित हो रही थी, उसे मोड़कर भीतर ले जाना। हमारे शरीर की विद्युत् को समूचे शरीर में ले जाना। जहां-जहां मन गया वहां-वहां प्राण गया और जहां-जहां प्राण गया वहां-वहां ऊर्जा गयी। जहां ऊर्जा का प्रवाह होता है वहां कोई भी दोष टिक नही सकता, रोग रह नहीं सकता। प्राण या ऊर्जा की कमी के कारण या उनके असंतुलन के कारण ही

रोग उत्पन्न होते हैं, बीमारियां होती हैं। उनका संतुलन होते ही दोष नष्ट हो जाते हैं। यही मन:चिकित्सा का आधार है। मन को भीतर ले जाने का प्रयोजन ही है प्राण और ऊर्जा को भीतर प्रवाहित करना। भीतर जाने का अर्थ ही है—ऊर्जा का विकास, ऊर्जा का समूचे शरीर में इतना अवगाहन कि जहां कमी हो वह पूरी हो सके।

कायोत्सर्ग शिथिलीकरण की क्रिया है। इसका इतना ही अर्थ नहीं है कि शरीर को शिथिल कर देना, शांत कर देना। बल्कि हम ऐसी तैयारी कर लें जिससे कि ऊर्जा का प्रवाह अजस्र हो जाए। इतना प्रवाह हो जाए कि कहीं कोई अवरोध न रहे, कोई तनाव न रहे। तनाव के कारण ही तो अवरोध होता है, गतिरोध होता है। शिथिल होने से अवरोध की गांठ खुल जाए और सारा प्रवाह अबाध गति से चलता रहे। वर्तमान में प्रचलित 'फीलिंग' की जो चिकित्सा-पद्धति है वह सारी-की-सारी मानसिक चिकित्सा की पद्धति है, जिसका पश्चिम में बहुत विकास हुआ है।

गुप्तियां तीन हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। कायगुप्ति का अर्थ है—शरीर को निवृत्त करना और प्रवृत्त करना। प्रवृत्त करने में आसन, प्राणायाम, श्वास की क्रियाएं, बैठने की सारी मुद्राएं आ जाती हैं। शरीर को निवृत्त करने का अर्थ है—शरीर को सारी क्रियाओं से मुक्त कर हलका बना देना मानो कि शरीर है ही नहीं। यह अनुभव होने लगे कि ध्यान करते-करते शरीर खो गया है। एक साधक ध्यान कर रहा था। ध्यान करते-करते वह चिल्लाने लगा—"मेरा शरीर खो गया है। आओ, जल्दी आओ, ढूंढो। ढूंढ़कर लाओ।" उसे यह भान ही नहीं रहा कि मेरा शरीर है या नहीं। एक बिन्दु है निवृत्ति का और एक बिन्दु है प्रवृत्ति का। योग दोनों विषयों में है।

साधना के अनेक प्रकार हैं। सबसे बड़ी साधना है—अध्यात्म की, भीतर में जाने की। बाहरी यात्रा से व्यक्ति को हटाकर भीतर की यात्रा करा सके, यह साधना सबसे बड़ी साधना है। चेतना का संपर्क जितना इसके माध्यम से होता है, उतना किसी के माध्यम से नहीं होता। हम जिस सत्य को इस माध्यम से जान सकते हैं, अन्य किसी माध्यम से नहीं। हम दूसरों के साथ एकात्मकता या मैत्री इस माध्यम से सहज ही स्थापित कर सकते है। दूसरे माध्यम इतने कार्यकारी नहीं होते।

यदि हम भीतर की यात्रा नहीं करते हैं तो अध्यात्म के स्थान पर कर्मकांड विकसित होते हैं। इसका अर्थ होता है कि अध्यात्म की ज्योति कर्मकांड की राख से ढंक जाती है—प्रकाश नीचे दब जाता है, कालिमा ऊपर आ जाती है। होना यह चाहिए कि प्रकाश प्रकट रहे, ज्योति ऊपर रहे। इस ज्योति को अनावृत करने के लिए, आग राख के ढेर के नीचे न दबे, इसके लिए भीतर का प्रवेश जरूरी है, अध्यात्म की यात्रा जरूरी है।

तपोयोग

अध्यात्म साधना के लिए चार तत्त्वों को जानना आवश्यक है। एक वह जिससे दुःख का सृजन होता है। दूसरा वह जो दुःख होता है। तीसरा वह जिससे दुःख का निरोध होता है। चौथा वह जिससे दुःख क्षीण होता है। जिससे दुःख का सृजन होता है वह आस्रव है, जो पहले अध्याय में बताया जा चुका है। जो दुःख होता है वह कर्म है, जो दूसरे अध्याय में बताया जा चुका है। जिससे दुःख का निरोध होता है वह संवर है। जिससे दुःख क्षीण होता है वह तप है। संवरयोग और तपोयोग—ये दो आध्यात्मिक विकास के उपाय है। संवर के द्वारा नये दुःख का सृजन रुक जाता है और तप के द्वारा पुराने दुःख क्षीण हो जाते हैं। नये के निरोध और पुराने के क्षय की स्थिति में वह चैतन्य उपलब्ध होता है जो दुःख से अतीत है।

अन्तर्दृष्टि का विकास होने पर मिथ्यादृष्टि से होने वाले दुःख अर्जित नहीं होते। समत्व का विकास होने पर आकांक्षा से होने वाले दुःख अर्जित नहीं होते। अप्रमाद का विकास होने पर चैतन्य की सुषुप्ति से होने वाले दुःख अर्जित नहीं होते। वीतरागता का विकास होने पर दुःख का मूल ही क्षीण हो जाता है। इस अवस्था में शुद्ध चेतना का विकास होता है, मन विलीन हो जाता है। इनकी साधना के तत्त्व पहले बताए जा चुके है। तप से दुःख का निरोध भी होता है और क्षय भी होता है।

तपोयोग की साधना का प्रथम सूत्र है—आहारशुद्धि। अधिक आहार से मल संचित होते हैं। जिसके शरीर में मल संचित होते हैं उसका नाड़ी-संस्थान शुद्ध नहीं रहता और मन भी निर्मल नहीं रहता। ज्ञान और क्रिया—इन दोनों की अभिव्यक्ति का माध्यम नाड़ी-संस्थान है। मलों के संचित होने पर ज्ञान और क्रिया—दोनों में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। नाड़ी-संस्थान के कार्य मे कोई अवरोध न हो, मन की निर्मलता बनी रहे, अपानवायु दूषित न हो—इन तथ्यों को

ध्यान में रखकर साधक अपने आहार का चुनाव करता है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर उपवास, मित भोजन और रस-परित्याग (गरिष्ठ भोजन का वर्जन) सुझाए गए हैं।

तपोयोग की साधना का दूसरा सूत्र है—आसन या कायक्लेश। शरीरगत चैतन्य-केन्द्रों को जागृत करने के लिए आसनों का अत्यन्त महत्त्व है। आसन करने वालों के लिए चैतन्य-केन्द्रों का ज्ञान होना जरूरी है। उस ज्ञान के आधार पर ही अनुकूल आसनों का चयन किया जा सकता है। ध्यान के लिए भी विशेष आसनों का चयन किया जाता है।[1]

कायक्लेश का प्रयोजन शरीर को सताना नहीं, किन्तु साधना के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शरीर की क्षमता को विकसित करना है। सूर्य का आताप लेना कष्टपूर्ण कार्य हो सकता है, किन्तु उसका प्रयोजन है—तैजस शक्ति को बढ़ाना। सर्दी और गर्मी सहन करने के पीछे भी एक विशेष दृष्टिकोण है।

तपोयोग की साधना का तीसरा सूत्र है—इन्द्रिय-संयम। इसकी साधना तीन प्रकार से की जा सकती है—

१. शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन इन्द्रिय-विषयों का परित्याग करें।
२. इन इन्द्रिय-विषयों का उपयोग करते हुए इनमें राग-द्वेष नहीं रखे। केवल शब्द सुनें किन्तु उसमें राग-द्वेष न करें। इससे श्रोत्रेन्द्रिय का संयम सधता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के संयम भी साधे जा सकते हैं।
३. इन्द्रिय-विषयों के साथ जुड़ने वाले मन को भीतर ले जाएं जिससे बाहर के विषयों का आकर्षण सहज ही समाप्त हो जाए।

तपोयोग की साधना का चौथा सूत्र है—ध्यान। ज्ञान और ध्यान एक ही चित्त की दो अवस्थाएं हैं। चित्त की चंचल अवस्था को ज्ञान और स्थिर अवस्था को ध्यान कहा जाता है। जो चित्त भिन्न-भिन्न आलंबनों पर स्फुरित होता है, वह उसकी ज्ञानात्मक अवस्था है। इसकी तुलना सूर्य की बिखरी हुई रश्मियों से की जा सकती है। जो चित्त एक ही आलंबन पर स्थिर, निरुद्ध या केन्द्रित हो जाता है, वह उसकी ध्यानात्मक अवस्था है। इसकी तुलना सूर्य की केन्द्रित रश्मियो से की जा सकती है।

चंचल चित्त के तीन रूप बनते हैं—चिन्तन, अनुप्रेक्षा और भावना।

१. आसनों की विशेष जानकारी के लिए देखें—आचार्यश्री तुलसी कृत 'मनोनुशासनम्'।

१. चिंतन

इसमें विषय की सीमा नहीं होती। इसमें मुक्तभाव से विचार चलता है, विकल्प आते हैं और नये-नये विषय उभरते रहते हैं।

२. अनुप्रेक्षा

यह एक विषय पर होने वाला अनुचिंतन है। इसमें निश्चित विषय पर ही विकल्प किए जाते हैं। कोई अनित्य की अनुप्रेक्षा करता है तब वह पदार्थ के अनित्य स्वभाव का ही चिंतन करता है। इसमें मुक्त चिंतन होता है, विषय नहीं बदलता, विकल्प बदलते रहते हैं।

३. भावना

इसमें एक विषयक विकल्प की पुनरावृत्ति होती है। अनुप्रेक्षा में विकल्प दोहराया नहीं जाता। इसमें वह दोहराया जाता है। 'आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है'—इस प्रकार का विकल्प 'अन्यत्व अनुप्रेक्षा' है। यह विकल्प बार-बार दोहराया जाता है तब वह भावना बन जाता है। जप इसी का एक प्रकार है। भावना में चिंतन और कर्म—दोनों की पुनरावृत्तियां की जाती हैं।

चिंतन की अपेक्षा अनुप्रेक्षा की सीमा छोटी है। उसकी अपेक्षा इसमें चंचलता की मात्रा कम हो जाती है। अनुप्रेक्षा की अपेक्षा भावना में चित्त की चंचलता और अधिक कम हो जाती है। फिर भी इनमें एकाग्रता का वह बिंदु नहीं बनता जिसे ध्यान कहा जा सके। अनुप्रेक्षा और भावना करते-करते चित्त निरुद्ध हो जाता है, उस आलंबन पर एकाग्र हो जाता है तब वे ध्यान के रूप में बदल जाती हैं।

चिंतन—अनेक विषय, अनेक विकल्प।
अनुप्रेक्षा—एक विषय, अनेक विकल्प।
भावना—एक विषय, एक विकल्प की पुनरावृत्ति।
ध्यान—एक विषय, एक विकल्प अपुनरावृत्त अथवा निर्विकल्प।

प्रेक्षा ध्यान

प्रेक्षा का अर्थ है—गहराई में उतरकर देखना। जानना और देखना चेतना का लक्षण है। आवृत चेतना में जानने और देखने की क्षमता क्षीण हो जाती है। उस क्षमता को विकसित करने का सूत्र है—जानो और देखो। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो, स्थूल मन के द्वारा सूक्ष्म मन को देखो, स्थूल चेतना के द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखो। देखना आत्मा का मूल तत्त्व है, इसलिए इस ध्यान-पद्धति का नाम 'प्रेक्षा ध्यान' है। यह विचय ध्यान के अभ्यास का ही एक प्रकार है। इसे 'दर्शन' या 'विपश्यना' भी कहा जाता है।

देखना साधक का सबसे बड़ा सूत्र है। जब हम देखते हैं तब सोचते नहीं हैं और जब हम सोचते है तब देखते नहीं हैं। विचारों का जो सिलसिला चलता है उसे रोकने का सबसे पहला और सबसे अंतिम साधन है—देखना। कल्पना के चक्रव्यूह को तोड़ने का सशक्त उपाय है—देखना। आप स्थिर होकर अनिमेष चक्षु से किसी वस्तु को देखें, विचार समाप्त हो जाएंगे, विकल्प शून्य हो जाएंगे। आप स्थिर होकर अपने भीतर देखें—अपने विचारों को देखें या शरीर के प्रकंपनों को देखें तो आप पाएंगे कि विचार स्थगित हैं और विकल्प-शून्य हैं। भीतर की गहराइयों को देखते-देखते सूक्ष्म शरीर को देखने लगेंगे। जो भीतरी सत्य को देख लेता है, उसमें बाहरी सत्य को देखने की क्षमता अपने आप आ जाती है।

देखना वह है जहां केवल चैतन्य सक्रिय होता है। जहां प्रियता और अप्रियता का भाव आ जाए, राग और द्वेष उभर जाए वहां देखना गौण हो जाता है। यही बात जानने पर लागू होती है।

हम पहले देखते हैं, फिर जानते हैं। इसे इस भाषा में स्पष्ट किया जा सकता है कि हम जैसे-जैसे देखते जाते हैं, वैसे-वैसे जानते चले जाते हैं। मन से देखने को

'पश्यत्ता' कहा गया है। इन्द्रिय-संवेदन से शून्य चैतन्य का उपयोग देखना और जानना है।

माध्यस्थ्य या तटस्थता प्रेक्षा का ही दूसरा रूप है। जो देखता है वह सम रहता है। वह प्रिय के प्रिय के प्रति राग-रंजित नहीं होता और अप्रिय के प्रति द्वेषपूर्ण नहीं होता। वह प्रिय और अप्रिय दोनों की उपेक्षा करता है—दोनों को निकटता से देखता है इसीलिए वह उनके प्रति सम, मध्यस्थ या तटस्थ रह सकता है। उपेक्षा या मध्यस्थता को प्रेक्षा से पृथक् नहीं किया जा सकता। 'जो इस महान् लोक की उपेक्षा करता है—उसे निकटता से देखता है', वह अप्रमत्त विहार कर सकता है।

चक्षु दृश्य को देखता है, पर उसे न निर्मित करता है और न उसका फल-भोग करता है। वह अकारक और अवेदक है। इसी प्रकार चैतन्य भी अकारक और अवेदक है। ज्ञानी जब केवल जानता या देखता है तब न वह कर्मबंध करता है और न विपाक में आए हुए कर्म का वेदन करता है। जिसे केवल जानने या देखने का अभ्यास उपलब्ध हो जाता है वह व्याधि या अन्य आगन्तुक कष्ट को देख लेता है, जान लेता है पर उसके साथ तादात्म्य का अनुभव नहीं करता। इस वेदना की प्रेक्षा से कष्ट की अनुभूति ही कम नहीं होती किंतु कर्म के बंध, सत्ता, उदय और निर्जरा को देखने की क्षमता भी विकसित हो जाती है।

समता

आत्मा सूक्ष्म है, अतीन्द्रिय है, इसलिए परोक्ष है। चैतन्य उसका गुण है। उसका कार्य है जानना और देखना। मन और शरीर के माध्यम से जानने और देखने की क्रिया होती है, इसलिए चैतन्य हमारे प्रत्यक्ष है। हम जानते हैं, देखते है, तब चैतन्य की क्रिया होती है। समग्र साधना का यही उद्देश्य है कि हम चैतन्य की स्वाभाविक क्रिया करें। केवल जानें और केवल देखें। इस स्थिति में अबाध आनन्द और अप्रतिहत शक्ति की धारा प्रवाहित रहती है, किंतु मोह के द्वारा हमारा दर्शन निरुद्ध और ज्ञान आवृत रहता है, इसलिए हम केवल जानने और केवल देखने की स्थिति मे नहीं रहते। हम प्राय: संवेदन की स्थिति में होते हैं। केवल जानना ज्ञान है। प्रियता और अप्रियता के भाव से जानना संवेदन है। हम पदार्थ को या तो प्रियता की दृष्टि से देखते हैं या अप्रियता की दृष्टि से। पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से नहीं देख पाते। पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से देखना ही समता है। वह केवल जानने और देखने से सिद्ध होती है। यह भी कहा जा सकता है कि केवल जानना और देखना ही समता है। जिसे समता प्राप्त होती है वही ज्ञानी होता है। जो ज्ञानी होता है उसी को समता प्राप्त होती है। ज्ञानी और साम्ययोगी—दोनों एकार्थक होते है।

हम इन्द्रियों के द्वारा देखते हैं, सुनते हैं, सूंघते हैं, चखते हैं, स्पर्श का अनुभव करते हैं तथा मन के द्वारा संकल्प-विकल्प या विचार करते हैं। प्रिय लगने वाले इन्द्रिय-विषय और मनोभाव राग उत्पन्न करते हैं और अप्रिय लगने वाले इन्द्रिय-विषय और मनोभाव द्वेष उत्पन्न करते हैं। जो प्रिय और अप्रिय लगने वाले विषयों और मनोभावों के प्रति सम रहता है, उसके अन्त.करण में वे प्रियता और अप्रियता का भाव उत्पन्न नहीं करते। प्रिय और अप्रिय तथा राग और द्वेष से परे वही हो सकता है जो केवल ज्ञाता और द्रष्टा होता है। जो केवल ज्ञाता और द्रष्टा होता है वही वीतराग होता है।

जैसे-जैसे हमारा जानने और देखने का अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे इन्द्रिय-विषय और मनोभाव प्रियता और अप्रियता उत्पन्न करना बन्द कर देते हैं। फलत: राग और द्वेष शांत और क्षीण होने लगते है। हमारी जानने और देखने की शक्ति अधिक प्रस्फुटित हो जाती है। मन मे कोई संकल्प उठे उसे हम देखें। विचार का प्रवाह चल रहा हो उसे हम देखें। इसे देखने का अर्थ होता है कि हम अपने अस्तित्व को संकल्प से भिन्न देख लेते है। संकल्प दृश्य है और मैं द्रष्टा हूं—इस भेद का स्पष्ट अनुभव हो जाता है। जब संकल्प के प्रवाह को देखते जाते है तब धीमे-धीमे उसका प्रवाह रुक जाता है। संकल्प के प्रवाह को देखते-देखते हमारी दर्शन की शक्ति इतनी पटु हो जाती है कि हम दूसरों के संकल्प-प्रवाह को भी देखने लग जाते हैं।

हमारी आत्मा में अखंड चैतन्य है। उसमें जानने-देखने की असीम शक्ति है, फिर भी हम बहुत सीमित जानते-देखते है। इसका कारण यह है कि हमारा ज्ञान आवृत है, हमारा दर्शन आवृत है। इस आवरण की सृष्टि मोह ने की है। मोह को तथा राग और द्वेष को पोषण मिल रहा है, प्रियता और अप्रियता के मनोभाव से। यदि हम जानने-देखने की शक्ति का विकास चाहते है तो हमें सबसे पहले प्रियता और अप्रियता के मनोभावों को छोड़ना होगा। उन्हें छोड़ने का जानने और देखने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। हमारे भीतर जानने और देखने की जो शक्ति बची हुई है, हमारा चैतन्य जितना अनावृत है उसका हम उपयोग करें। केवल जानने और देखने का जितना अभ्यास कर सकें, करे। इससे प्रियता और अप्रियता के मनोभाव पर चोट होगी। उससे राग-द्वेष का चक्रव्यूह टूटेगा। उससे मोह की पकड़ कम होगी। फलस्वरूप ज्ञान और दर्शन का आवरण क्षीण होने लगेगा। इसलिए वीतराग साधना का आधार जानना और देखना ही हो सकता है। इसीलिए इस सूत्र की रचना हुई है कि समूचे ज्ञान का सार सामायिक है—समता है।

श्वास-प्रेक्षा

श्वास और जीवन—दोनों एकार्थक जैसे हैं। जब तक जीवन तब तक श्वास और जब तक श्वास तब तक जीवन—यह कहा जा सकता है। शरीर और मन के साथ श्वास का गहरा संबंध है। यह एक एसा सेतु है जिसके द्वारा नाड़ी-संस्थान, मन और प्राणशक्ति तक पहुंचा जा सकता है। चैतन्य के द्वारा प्राणशक्ति संचालित होती है। प्राणशक्ति के द्वारा मन, नाड़ी-संस्थान और शरीर संचालित होता है। श्वास शरीर की ही एक क्रिया है। इसलिए कहा जा सकता है कि श्वास को देखने का अर्थ है—प्राणशक्ति के स्पंदनों को देखना और उस चैतन्य शक्ति को देखना, जिसके द्वारा प्राणशक्ति स्पंदित होती है।

श्वास दो प्रकार का होता है—सहज और प्रयत्नजनित। प्रयत्न के द्वारा श्वास को दीर्घ किया जा सकता है तथा किसी एक नथुने से लेकर दूसरे नथुने से निकाला जा सकता है।

इस प्रकार श्वास-प्रेक्षा के तीन रूप बन जाते हैं—

१. सहज श्वास-प्रेक्षा।
२. दीर्घ श्वास-प्रेक्षा।
३. समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा।

श्वास-प्रेक्षा मानसिक एकाग्रता का बहुत महत्त्वपूर्ण आलंबन है। दीर्घश्वास से रक्त को बल मिलता है, शक्ति-केन्द्र जागृत होते है, तैजस-शक्ति जागृत होती है, सुषुम्ना और नाड़ी-संस्थान प्रभावित होता है। इससे भावनाओं पर नियंत्रण करने में सहायता मिलती है। समवृत्ति श्वास से नाड़ी-संस्थान का शोधन होता है, ज्ञान-शक्ति विकसित होती है और अतीन्द्रिय ज्ञान की संभावनाओं का द्वार खुलता है।

अनिमेष-प्रेक्षा

मस्तिष्क के पीछे बाएं भाग की ओर छोटे-छोटे कोषों का एक समुदाय है, वे कोष बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें अतीन्द्रियज्ञान की क्षमता है। वे सुप्त रहते हैं, इसलिए उनकी क्षमता का उपयोग नही होता। यदि वे जागृत किए जा सकें, सक्रिय बनाए जा सकें तो अनेक अज्ञात तथ्य ज्ञात हो सकते हैं। उन्हें जागृत करने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है 'अनिमेष प्रेक्षा'।

नासाग्र, किसी बिंदु या भित्ति को अपलक दृष्टि से देखते रहना अनिमेष प्रेक्षा है।

शरीर-प्रेक्षा

साधना की दृष्टि से शरीर का बहुत महत्त्व है। यह आत्मा का केन्द्र है। इसी के माध्यम से चैतन्य अभिव्यक्त होता है। चैतन्य पर आए हुए आवरण को दूर करने के लिए इसे सशक्त माध्यम बनाया जा सकता है। इसीलिए गौतम ने केशी से कहा था—यह शरीर नौका है। जीव नाविक है और संसार समुद्र है। इस नौका के द्वारा संसार का पार पाया जा सकता है। शरीर को समग्रदृष्टि से देखने की साधना-पद्धति बहुत महत्त्वपूर्ण है। शरीर के तीन भाग हैं—

१. अधोभाग—आंख का गड्ढा, गले का गड्ढा, मुख के बीच का भाग।
२. ऊर्ध्वभाग—घुटना, छाती, ललाट, उभरे हुए भाग।
३. तिर्यग्भाग—समतल भाग।

शरीर के अधोभाग में स्रोत हैं, ऊर्ध्वभाग में स्रोत हैं और मध्यभाग में स्रोत—नाभि है।

साधक चक्षु को संयत कर शरीर की विपश्यना करें। उसकी विपश्यना करने वाला उसके अधोभाग को जान लेता है, उसके ऊर्ध्वभाव को जान लेता है और उसके मध्यभाग को भी जान लेता है।

जो साधक वर्तमान क्षण मे शरीर में घटित होने वाली सुख-दु:ख की वेदना को देखता है, वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह अप्रमत्त हो जाता है।

शरीर-दर्शन की यह प्रक्रिया अन्तर्मुख होने की प्रक्रिया है। सामान्यत: बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अंतर की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन स्थूल शरीर है। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर है। उनके भीतर आत्मा है। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनों को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमश: तैजस और कर्म-शरीर को देखने लग जाता है। शरीर-दर्शन का दृढ़ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढ़ता जाता है।

स्थूल शरीर के वर्तमान क्षण को देखने वाला जागरूक हो जाता है। कोई क्षण सुखरूप होता है और कोई क्षण दु:खरूप। क्षण को देखने वाला सुखात्मक क्षण के प्रति राग नहीं करता और दु:खात्मक क्षण के प्रति द्वेष नहीं करता। वह केवल देखता और जानता है।

शरीर की प्रेक्षा करने वाला शरीर के भीतर से भीतर पहुंचकर शरीर धातुओं को देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों (अंतरों) को भी देखता है।

देखने का प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसका महत्त्व तभी अनुभूत होता है जब मन की स्थिरता, दृढ़ता और स्पष्टता से दृश्य को देखा जाए। शरीर के प्रकंपनों को देखना, उसके भीतर प्रवेश कर भीतरी प्रकंपनों को देखना, मन को बाहर से भीतर में ले जाने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से मूर्च्छा टूटती है और सुप्त चैतन्य जागृत होता है। शरीर का जितना आयतन है उतना ही आत्मा का आयतन है। जितना आत्मा का आयतन है उतना ही चेतना का आयतन है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के कण-कण में चैतन्य व्याप्त है। इसीलिए शरीर के प्रत्येक कण मे संवेदन होता है। उस संवेदन से मनुष्य अपने स्वरूप को देखता है, अपने अस्तित्व को जानता है और अपने स्वभाव का अनुभव करता है। शरीर में होने वाले संवेदन को देखना चैतन्य को देखना है, उसके माध्यम से आत्मा को देखना है।

वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

अतीत बीत जाता है, भविष्य अनागत होता है, जीवित क्षण वर्तमान होता है। भगवान् महावीर ने कहा—'खणं जाणाहि पंडिए।' साधक, तुम क्षण को जानो। अतीत के संस्कारों की स्मृति से भविष्य की कल्पनाएं और वासनाएं होती है। वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना—दोनों से बच जाता है। स्मृति और कल्पना राग-द्वेष-युक्त चित्त का निर्माण करती है। जो वर्तमान क्षण का अनुभव करता है, वह सहज ही राग-द्वेष से बच जाता है। यह राग-द्वेष-शून्य वर्तमान क्षण ही संवर है। राग-द्वेष-शून्य वर्तमान क्षण को जीने वाला अतीत मे अर्जित कर्म-संस्कार के बंध का निरोध करता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण मे जीने वाला अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और भविष्य का प्रत्याख्यान करता है।

तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नही देखते। कल्पना को छोड़ने वाला महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी हो कर्मशरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।

भगवान् महावीर ने कहा—'इस क्षण को जानो।' वर्तमान को जानना और वर्तमान में जीना ही भावक्रिया है। यांत्रिक जीवन जीना, काल्पनिक जीवन जीना और कल्पना-लोक मे उड़ान भरना द्रव्यक्रिया है। यह चित्त का विक्षेप है और साधना का विघ्न है। भावक्रिया स्वयं साधना और स्वयं ध्यान है। हम चलते हैं और चलते समय हमारी चेतना जागृत रहती है, 'हम चल रहे है'—इसकी स्मृति रहती है—यह गति की भावक्रिया है। इसका सूत्र है कि साधक चलते समय पांचों इन्द्रियों के विषयों पर मन को केन्द्रित न करे। आंखों से कुछ दिखाई देता है, शब्द कानों से टकराते हैं, गंध के परमाणु आते हैं, ठंडी या गर्म हवा शरीर को

छूती है—इन सबके साथ मन को न जोड़ें। रस की स्मृति न करें।

साधक चलते समय पांचों प्रकार का स्वाध्याय न करे—न पढ़ाए, न प्रश्न पूछे, न पुनरावर्तन करे, न अर्थ का अनुचिंतन करे और न धर्म-चर्चा करे। मन को पूरा खाली रखे। साधक चलने वाला न रहे, किंतु चलना बन जाये, तन्मूर्ति (मूर्तिमान् गति) हो जाए। उसका ध्यान चलने में ही केन्द्रित रहे, चेतना गति का पूरा साथ दे। यह गमनयोग है।

शरीर और वाणी की प्रत्येक क्रिया भावक्रिया बन जाती है जब मन की क्रिया उसके साथ होती है, चेतना उसमें व्याप्त होती है।

भावक्रिया का सूत्र है—चित्त और मन क्रियमाण क्रियामय हो जाए, इन्द्रियां उस क्रिया के प्रति समर्पित हों, हृदय उसकी भावना से भावित हो, मन उसके अतिरिक्त किसी अन्य विषय में न जाए, इस स्थिति में क्रिया भावक्रिया बनती

एकाग्रता

प्रेक्षा से अप्रमाद (जागरूकभाव) आता है। जैसे-जैसे अप्रमाद बढ़ता है, वैसे-वैसे प्रेक्षा की सघनता बढ़ती है। हमारी सफलता एकाग्रता पर निर्भर है। अप्रमाद या जागरूकभाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। शुद्ध उपयोग—केवल जानना और देखना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। किंतु इनका महत्त्व तभी सिद्ध हो सकता है जब ये लम्बे समय तक निरंतर चले। देखने और जानने की क्रिया में बार-बार व्यवधान न आए; चित्त उस क्रिया में प्रगाढ़ और निष्प्रकंप हो जाए। अनवस्थित, अव्यक्त और मृदु चित्त ध्यान की अवस्था का निर्माण नहीं कर सकता। पचास मिनट तक एक आलम्बन पर चित्त की प्रगाढ़ स्थिरता का अभ्यास होना चाहिए। यह सफलता का बहुत बड़ा रहस्य है। इस अवधि के बाद ध्यान की धारा रूपान्तरित हो जाती है। लम्बे समय तक ध्यान करने वाला अपने प्रयत्न से उस धारा को नये रूप में पकड़कर उसे और प्रलंब बना देता है।

संयम

हमारे भीतर शक्ति का अनंत कोष है। उस शक्ति का बहुत बड़ा भाग ढंका हुआ है, प्रतिहत है। कुछ भाग सत्ता मे है और कुछ भाग उपयोग में आ रहा है। हम अपनी शक्ति के प्रति यदि जागरूक हों तो सत्ता में रही हुई शक्ति और प्रतिहत शक्ति को उपयोग की भूमिका तक ला सकते हैं।

शक्ति का जागरण संयम के द्वारा किया जा सकता है। हमारे मन की अनेक मांगें होती हैं। हम उन मांगों को पूरा करते चले जाते हैं। फलतः हमारी शक्ति स्खलित होती जाती है। उसके जागरण का सूत्र है—मन की मांग का

अस्वीकार। मन की मांग के अस्वीकार का अर्थ है—संकल्प-शक्ति का विकास। यही संयम है। जिसका निश्चय (संकल्प या संयम) दृढ़ होता है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं होता।

शुभ और अशुभ निमित्त कर्म के उदय में परिवर्तन ला देते हैं। किंतु मन का संकल्प उन सबसे बड़ा निमित्त है। इससे जितना परिवर्तन हो सकता है उतना अन्य निमित्तों से नहीं हो सकता। जो अपने निश्चय में एकनिष्ठ होते हैं वे महान् कार्य को सिद्ध कर लेते हैं। गौतम ने पूछा—'भंते! संयम से जीव क्या प्राप्त करता है?' भगवान् ने कहा—'संयम से जीव आस्रव का निरोध करता है। संयम का फल अनास्रव है। जिसमें संयम की शक्ति विकसित हो जाती है उसमें विजातीय द्रव्य का प्रवेश नहीं हो सकता। संयमी मनुष्य बाहरी प्रभावों से प्रभावित नहीं होता। कहा है—सब काम ठीक समय करो। खाने के समय खाओ, सोने के समय सोओ। सब काम निश्चित समय पर करो। यदि आप नौ बजे ध्यान करते है और प्रतिदिन उस समय ध्यान ही करते हैं, मन की किसी अन्य मांग को स्वीकार नहीं करते तो आपकी संयम-शक्ति प्रबल हो जायेगी।

संयम एक प्रकार का कुंभक है। कुंभक में जैसे श्वास का निरोध होता है, वैसे ही संयम में इच्छा का निरोध होता है। भगवान् महावीर ने कहा—सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, बीमारी, गाली, मारपीट—इन सब घटनाओं को सहन करो। यह उपदेश नहीं है। यह संयम का प्रयोग है। सर्दी लगती है तब मन की मांग होती है कि गर्म कपड़ों का उपयोग किया जाए या सिगड़ी आदि की शरण ली जाए। गर्मी लगती है तब मन ठंडे द्रव्यों की मांग करता है। संयम का प्रयोग करने वाला उस मांग की उपेक्षा करता है—मन की मांग को जान लेता है, देख लेता है पर उसे पूरा नहीं करता। ऐसा करते-करते मन मांग करना छोड़ देता है, फिर जो घटना घटती है वह सहजभाव से सह ली जाती है।

प्रेक्षा संयम है, उपेक्षा संयम है। आप पूरी एकाग्रता के साथ अपने लक्ष्य को देखें, अपने आप संयम हो जाएगा। फिर मन, वचन और शरीर की मांग आपको विचलित नहीं करेगी। उसके साथ उपेक्षा, मन, वचन और शरीर का संयम अपने आप सध जाता है।

भावनायोग

ध्यान का अर्थ है प्रेक्षा—देखना। उसकी समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विषय का अनुचिंतन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का बार-बार अभ्यास किया जाता है, उससे मन प्रभावित हो जाता है। इसलिए उस चिंतन या अभ्यास को भावना कहा जाता है।

जिस व्यक्ति को भावना का अभ्यास हो जाता है उसमें ध्यान की योग्यता आ जाती है। ध्यान की योग्यता के लिए चार भावनाओं का अभ्यास आवश्यक है :

१. ज्ञान भावना—राग, द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थभाव से जानने का अभ्यास।

२. दर्शन भावना—राग, द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थभाव से देखने का अभ्यास।

३. चारित्र भावना—राग, द्वेष और मोह से शून्य समत्वपूर्ण आचरण का अभ्यास।

४. वैराग्य भावना—अनासक्ति, अनाकांक्षा और अभय का अभ्यास।

मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है, उसी रूप में उसका संस्कार निर्मित हो जाता है। यह आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया है। इसे 'जप' भी कहा जा सकता है। आत्मा की भावना करने वाला आत्मा में स्थित हो जाता है। 'सोऽहं' के जप का यही मर्म है। 'अर्हम्' की भावना करने वाले में 'अर्हत्' होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। कोई व्यक्ति भक्ति से भावित होता है, कोई ब्रह्मचर्य से और कोई सत्संग से। अनेक व्यक्ति नाना भावनाओं से भावित होते हैं। जो किसी भी कुशल कर्म से अपने को भावित करता है उसकी भावना

उसे लक्ष्य की ओर ले जाती है।

भगवान् महावीर ने भावना को नौका के समान कहा है। नौका यात्री को तीर तक ले जाती है। उसी प्रकार भावना भी साधक को दुःख के पार पहुंचा देती है।

प्रतिपक्ष की भावना से स्वभाव, व्यवहार और आचरण को बदला जा सकता है। मोह कर्म के विपाक पर प्रतिपक्ष भावना का निश्चित परिणाम होता है। उपशम की भावना से क्रोध, मृदुता की भावना से अभिमान, ऋजुता की भावना से माया और संतोष की भावना से लोभ को बदला जा सकता है। राग और द्वेष का संस्कार चेतना की मूर्च्छा से होता है और वह मूर्च्छा चेतना के प्रति जागरूकता लाकर तोड़ी जा सकती है। प्रतिपक्ष भावना चेतना की जागृति का उपक्रम है, इसलिए उसका निश्चित परिणाम होता है।

साधनाकाल में ध्यान के बाद स्वाध्याय और स्वाध्याय के बाद फिर ध्यान करना चाहिए। स्वाध्याय की सीमा में जप, भावना और अनुप्रेक्षा—इन सबका समावेश होता है। यथासमय और यथाशक्ति इन सबका प्रयोग आवश्यक है।

भावधारा और आभामंडल

जीव और अजीव के बीच जो भेद-रेखाएं खींची गयी हैं उनमें एक भेद-रेखा है लेश्या। लेश्या जीव में ही होती है, अजीव में नहीं होती। इस नियम के आधार पर यह परिभाषा की जा सकती है कि जिसमें लेश्या होती है वह जीव और जिसमें लेश्या नहीं होती वह अजीव।

लेश्या चैतन्य और पुद्गल—दोनों के योग से निर्मित होती है। चैतन्य की रश्मि पुद्गल की रश्मि को प्रभावित करती है और पुद्गल की रश्मि चैतन्य की रश्मि को प्रभावित करती है। यह पारस्परिक प्रभाव ही लेश्या का मौलिक आधार है। लेश्या का विचार चैतन्य-परिणाम और पुद्गल-परिणाम—दोनों दृष्टियों से होता है। हमारे विचार पौद्गलिक द्रव्यों से प्रभावित होकर जो आकार लेते हैं वह 'चैतन्य-लेश्या' है। हमारे विचारों से प्रभावित होकर पौद्गलिक द्रव्य जो आकार लेते हैं वह 'पुद्गल-लेश्या' या 'आभामंडल' है। हमारे विचार बहुत सूक्ष्म होते है, इसलिए उनके आधार पर आभामंडल को पहचानना दूसरे व्यक्ति के लिए सहज नहीं होता। आभामंडल विचारों की अपेक्षा स्थूल होता है, इसलिए उसके माध्यम से विचारों को पहचाना जा सकता है। किंतु आभामंडल भी इतना स्थूल नहीं होता कि उसे चर्म-चक्षु से देखा जा सके। वह इन्द्रियगम्य नहीं है। उसे देखने के लिए अतीन्द्रिय प्रतिभा का विकास जरूरी है। प्रेक्षाध्यान के द्वारा वह किया जा सकता है। उसका विकास होने पर आभामंडल को देखा जा सकता है और आभामंडल के द्वारा विचारों को देखा जा सकता है।

प्रत्येक प्राणी के दो प्रकार के शरीर होते हैं—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल शरीर रक्त, मांस, अस्थि आदि धातुओं से निर्मित होता है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म परमाणुओं से निर्मित होता है। उसके इलेक्ट्रॉन स्थूल शरीर (ठोस शरीर) के इलेक्ट्रॉनों की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से चलायमान होते हैं। इसीलिए सूक्ष्म

शरीर और उनकी गतिविधि इन्द्रियगम्य नहीं होती। सूक्ष्म शरीर के दो प्रकार हैं—तैजस शरीर और कर्म शरीर। प्राणी की प्राण-शक्ति का मूल स्रोत तैजस शरीर है। इससे प्राण-शक्ति उत्पन्न होती है। वह स्थूल शरीर, श्वास, इन्द्रिय, वचन और मन को संचालित करती है। पौद्गलिक लेश्या या आभामंडल भी तैजस शरीर से निष्पन्न होता है। प्राणी के जन्म लेने के साथ वह बनता है और जीवन के अंत तक वह रहता है। इसके आधार पर जीवित या मृत का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। हृदयगति या श्वास के रुक जाने पर या नाड़ी के स्पंदन पकड़ में न आने पर मनुष्य को मृत घोषित किया जाता है, यह एक स्थूल ज्ञान है। जीवित या मृत के पहचान की सूक्ष्म पद्धति है आभामंडल का ज्ञान। जब तक आभामंडल क्षीण नहीं होता तब तक हृदयगति या श्वास के रुक जाने पर भी मनुष्य की वास्तविक मृत्यु नहीं होती। उसकी वास्तविक मृत्यु आभामंडल के क्षीण हो जाने पर ही होती है।

सोवियत रूस के इलेक्ट्रॉनिक विशेषज्ञ 'सेमयोन किर्लियान' तथा उनकी वैज्ञानिक पत्नी 'वेलेन्टिना' ने फोटोग्राफी की एक विशेष विधि का आविष्कार किया। उस विधि द्वारा प्राणियों और पौधों के आसपास होने वाले सूक्ष्म विद्युतीय गतिविधियों का छायांकन किया जा सकता है। जब एक पौधे से तत्काल तोड़ी गयी पत्ती की सूक्ष्म गतिविधियों की फिल्म खींची गयी तो आश्चर्यकारी दृश्य सामने आये। पहले चित्र में पत्ती के चारों ओर स्फुलिंगों, झिलमिलाहटों और स्पंदी ज्योतियों के मंडल दिखाई दिये। दस घंटे बाद लिये गये छाया-चित्रों में ये आलोकमंडल क्षीण होते दिखाई दिये। अगले दस घंटों के छाया-चित्रों मे आलोक मंडल पूरी तरह क्षीण हो चुके थे। इसका तात्पर्य है कि पत्ती की तब मौत हो चुकी थी।

किर्लियान-दम्पति ने एक रुग्ण पत्ती की फिल्म उस विशेष विधि से खींची। उसमें आलोक-मंडल प्रारम्भ से ही कम था और वह शीघ्र ही समाप्त हो गया।

किर्लियान-दम्पति ने उस विशेष विधि द्वारा अत्यंत निकट से मानव शरीर के छाया-चित्र खींचे। उन छाया-चित्रों में गरदन, हृदय, उदर आदि अवयवों पर विभिन्न रंगों के सूक्ष्म धब्बे दिखाई दिये। वे उन अवयवों से विसर्जित होने वाली विद्युत्-ऊर्जाओं के द्योतक थे।

लेश्या वनस्पति के जीवों मे भी होती है। पशु-पक्षी तथा मनुष्य में भी होती है। इसलिए आभामंडल भी प्राणीमात्र मे होता है।

तैजस शरीर शक्ति-विकिरण का केन्द्र है। वह जितना विकसित होता है उतना ही उससे शक्ति-विकिरण होता है। वह शक्ति-विकिरण स्थूल शरीर के चारों ओर तीन-चार फुट तक फैल जाता है। यह अन्तरंग के अच्छे या बुरे विचारों का विकिरण करता है। यह सबका एक-जैसा नही होता। लेश्या के आधार पर

यह सशक्त या अशक्त, अच्छा या बुरा होता है। इससे दूसरे व्यक्ति प्रभावित होते हैं। अशक्त आभामंडल वाला सशक्त आभामंडल वाले से प्रभावित हो जाता है। 'भले मनुष्य के संसर्ग में रहो', 'बुरे मनुष्य के संसर्ग से बचो'—इस उपदेश-वाक्य के पीछे यही रहस्य सन्निहित है। अच्छे आभामंडल वाले व्यक्ति के पास जाने पर बुरे विचार छूट जाते हैं और अच्छे विचार आने लग जाते हैं। किसी का आभामंडल बुरा, किंतु सशक्त हो तो उसके पास अच्छे विचार वाला, किंतु दुर्बल आभामंडल वाला जाता है तो उसके विचार भी बुरे बन जाते हैं। बहुत बार अकारण ही घृणा, दैन्य या विषाद के विचार इन्हीं प्रभावों से आ जाते हैं। उत्साह, प्रसन्नता या सात्त्विक विचारों की आकस्मिक उत्पत्ति में भी आभा-मंडल के प्रभाव कार्य करते हैं।

लेश्या का वर्गीकरण

प्राणीमात्र के अध्यवसाय अशुद्ध और शुद्ध—दोनों प्रकार के होते हैं। जिस अध्यवसाय में राग-द्वेषात्मक संक्लेश होता है वह अशुद्ध होता है और जिसमें राग-द्वेषात्मक संक्लेश नहीं होता वह शुद्ध होता है। इस अध्यवसाय-भेद के आधार पर लेश्या के दो वर्ग बनते हैं—अधर्म लेश्या और धर्म लेश्या। लेश्या पुद्‌गल-परमाणुओं से प्रभावित होती है और उन्हें प्रभावित करती है। पुद्‌गल-परमाणुओं में पांच वर्ण होते है। इस आधार पर लेश्या का दूसरा वर्गीकरण होता है। उस वर्गीकरण में लेश्या के छह प्रकार बनते हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोत-लेश्या, तेजोलेश्या, पद्‌मलेश्या और शुक्ललेश्या। कापोतलेश्या में कृष्ण और लाल—दोनों रंग मिश्रित होते हैं। उक्त दोनों वर्गीकरण निमित्त और उपादान के आधार पर किये गये हैं। अशुद्ध लेश्या का उपादान है—कषाय की तीव्रता। और शुद्ध लेश्या का उपादान है—कषाय की मंदता। अशुद्ध लेश्या के निमित्त हैं—कृष्ण, नील और कापोत वर्ण वाले पुद्‌गल और शुद्ध लेश्या के निमित्त हैं—रक्त, पीत और श्वेत वर्ण वाले पुद्‌गल।

प्रथम तीन लेश्या में विचारधारा क्लेशपूर्ण होती है और अंतिम तीन लेश्या में विचारधारा क्लेशरहित होती है। उनमें क्लेश और अक्लेश की तरतमता इस प्रकार रहती है—

१. कृष्णलेश्या — अशुद्धतम — क्लिष्टतम
२. नीललेश्या — अशुद्धतर — क्लिष्टतर
३. कापोतलेश्या — अशुद्ध — क्लिष्ट
४. तेजोलेश्या — शुद्ध — अक्लिष्ट
५. पद्‌मलेश्या — शुद्धतर — अक्लिष्टतर
६. शुक्ललेश्या — शुद्धतम — अक्लिष्टतम

मनुष्य में जैसी लेश्या होती है वैसा ही उसका आभामंडल होता है। विचार-धारा की विशुद्धि से आभामंडल विशुद्ध बनता है और उसकी मलिनता से आभा-मंडल मलिन बनता है। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य के आभामंडल भी छह प्रकार के बनते जाते हैं। पंचवर्ण वाले पुद्गल-परमाणु मनुष्य की विचारधारा को प्रभावित करते हैं। उनके आधार पर मनुष्य की विचारधारा भी छह रंगी बन जाती है।

जो पुद्गल-परमाणु मनुष्य की विचारधारा को प्रभावित करते हैं और जिन पुद्गल-परमाणुओं से आभामंडल निर्मित होते हैं उनमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये चारों होते हैं। इनमें वर्ण मनुष्य के शरीर और मन को अधिक प्रभावित करता है। इसीलिए वर्ण के आधार पर लेश्याओं के नामकरण प्रस्तुत किये गये हैं।

लेश्याओं के वर्ण, रस, गंध और स्पर्श एक चार्ट द्वारा समझाये गये हैं। (देखें पृ० ११५)

वर्ण अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के होते हैं। काला वर्ण अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है। प्रशस्त भी होता है, अप्रशस्त भी होता है। मनोज्ञ भी होता है, अमनोज्ञ भी होता है। श्वेत वर्ण भी अच्छा-बुरा या प्रशस्त-अप्रशस्त, या मनोज्ञ-अमनोज्ञ होता है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के आभामंडल में होने वाले कृष्ण, नील और कापोत वर्ण अप्रशस्त होते हैं। तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्या के आभामडल मे होने वाले रक्त, पीत और श्वेत वर्ण प्रशस्त होते हैं।

लेश्या और ध्यान

मानसिक विचार की तरतमता के छह स्थान किए गए है। यह एक स्थूल वर्गीकरण है। सूक्ष्म तरतमता के आधार पर उसके अनेक स्थान होते हैं। यही नियम आभामंडल के लिए लागू होता है। मानसिक तरतमता के आधार पर वर्णों की छाया मे भी बहुत तरतमता आ जाती है।

क्रोध, मान, माया और लोभ का परिणाम उत्कृष्ट होता है तब कृष्णलेश्या, मध्यम होता है तब नीललेश्या और मंद होता है तब कापोतलेश्या की भावधारा होती है। क्रोध, मान, माया और लोभ के संयम का परिणाम मंद होता है तब तेजोलेश्या, मध्यम होता है तब पद्मलेश्या और उत्कृष्ट होता है तब शुक्ललेश्या की भावधारा होती है।

आर्त्तध्यान के समय कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों लेश्याएं होती है। रौद्रध्यान के समय भी ये तीनों होती है, किंतु उनका परिणमन तीव्रतम होता है। धर्मध्यान के समय तेजस्, पद्म और शुक्ल—ये तीनों लेश्याएं होती हैं। शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों में शुक्ल और तीसरे चरण में परम शुक्ललेश्या होती है।

लेश्या	वर्ण	रस	गंध	स्पर्श
१. कृष्ण	मेघ की तरह कृष्ण।	तूंबे से अनन्त गुना कड़वा।	मृत सर्प की गंध से अनन्त गुना अमनोज्ञ।	गाय की जीभ से अनन्त गुना कर्कश
२. नील	अशोक की तरह नील।	त्रिकुट से अनन्त गुना तीखा।		
३. कापोत	अलसी पुष्प की तरह मटमैला।	केरी से अनन्त गुना कषैला।		
४. तेजस्	हिंगुल की तरह रक्त।	पके आम से अनन्त गुना अम्ल-मधुर	सुरभि कुसुम की गंध से अनन्त गुना मनोज्ञ।	नवनीत से अनन्त गुना मृदु।
५. पद्म	हरिताल की तरह पीत।	आसव से अनन्त गुना अम्ल, कषैला और मधुर।		
६. शुक्ल	शंख की तरह श्वेत।	खजूर से अनन्त गुना मधुर।		

उसका चौथा चरण लेश्यातीत होता है। भावधारा की विचित्रता के आधार पर आभामंडल के वर्ण भी विचित्र बनते जाते हैं और वर्ण की विचित्रता भावधारा की विचित्रता का बोध कराने में सक्षम होती है। हम भावधारा को साक्षात् नहीं देख पाते, नहीं जान पाते। वर्णों की विचित्रता के आधार पर भावधारा का अनुमान कर सकते हैं।

आभामंडल में काले वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि इस व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है, आकांक्षा प्रबल है, प्रमाद प्रचुर है, कषाय का आवेग प्रबल और प्रवृत्ति अशुभ है, मन, वचन और काया का संयम नहीं है, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं है, प्रकृति क्षुद्र है, बिना विचारे काम करता है, क्रूर है और हिंसा में रस लेता है।

यदि काला वर्ण अधिक अप्रशस्त, अमनोज्ञ होता है तो उक्त भावधारा और प्रवृत्ति के अधिक तीव्र रूप का अनुमान किया जा सकता है।

आभामंडल में नील वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि इस व्यक्ति में ईर्ष्या, कदाग्रह, माया, निर्लज्जता, आसक्ति, प्रद्वेष, शठता, प्रमाद, यशलोलुपता, सुख की गवेषणा, प्रकृति की क्षुद्रता, बिना विचारे काम करना, अतपस्विता, अविद्या, हिंसा मे प्रवृत्ति—इस प्रकार की भावधारा और प्रवृत्ति है।

यदि नील वर्ण अधिक अप्रशस्त, अमनोज्ञ होता है तो उक्त भावधारा और प्रवृत्ति के अधिक तीव्ररूप का अनुमान किया जा सकता है।

आभामंडल में कापोत वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि इस व्यक्ति मे वाणी की वक्रता, आचरण की वक्रता, प्रवंचना, अपने दोषों को छिपाने की प्रवृत्ति, मखौल करना, दुष्टवचन बोलना, चोरी करना, मात्सर्य, मिथ्यादृष्टि—इस प्रकार की भावधारा और प्रवृत्ति है।

यदि कापोत वर्ण अधिक अप्रशस्त, अमनोज्ञ होता है तो उक्त भावधारा और प्रवृत्ति के अधिक तीव्ररूप का अनुमान किया जा सकता है।

आभामंडल में रक्त वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि यह व्यक्ति नम्र व्यवहार करने वाला, अचपल, ऋजु, कुतूहल न करने वाला, विनयी, जितेन्द्रिय, मानसिक समाधि वाला, तपस्वी, धर्म में दृढ आस्था रखने वाला, पाप-भीरू और मुक्ति की गवेषणा करने वाला है।

आभामंडल मे पीतवर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि यह व्यक्ति अल्प क्रोध, मान, माया और लोभ वाला, प्रशांत चित्त वाला, समाधिस्थ, अल्पभाषी, जितेन्द्रिय और आत्मसंयम करने वाला है।

आभामंडल मे श्वेत वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि यह व्यक्ति प्रशान्त चित्त वाला, जितेन्द्रिय, मन, वचन और काया का संयम करने वाला, शुद्ध आचरण से सम्पन्न, ध्यानलीन और आत्म-संयम करने वाला है।

यदि रक्त, पीत और श्वेत वर्ण अधिक प्रशस्त, मनोज्ञ होते हैं तो उक्त भावधारा और प्रवृत्ति के प्रकृष्ट होने का अनुमान किया जा सकता है।

ध्यान और लेश्या का संबंध इस प्रकार है—

१. **आर्त्तध्यान**—कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की भावधारा, कृष्ण, नील और कापोत वर्ण की प्रधानता वाला अमनोज्ञ आभामंडल।
२. **रौद्रध्यान**—कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की प्रकृष्ट भावधारा, कृष्ण, नील और कापोत वर्ण की प्रधानता वाला अमनोज्ञतम आभामंडल।
३. **धर्मध्यान**—तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्या की भावधारा, तेजस्, पद्म और शुक्ल वर्ण की प्रधानता वाला आभामंडल।
४. **शुक्लध्यान**—शुक्ल और परमशुक्ल लेश्या की भावधारा, शुक्ल वर्ण का मनोज्ञतम आभामंडल।

लेश्या और चैतन्य-केन्द्र

हमारे शरीर में अनेक चैतन्य-केन्द्र है। आर्त्त, रौद्रध्यान होता है तब अशुद्ध लेश्या होती है। उस स्थिति में चैतन्य-केन्द्र सुप्त रहते हैं। धर्म और शुक्ल ध्यान होता है तब लेश्या शुद्ध होती है। उस स्थिति में चैतन्य-केन्द्र जागृत हो जाते हैं। चैतन्य-केन्द्र हमारी चेतना और शक्ति की अभिव्यक्ति के स्रोत हैं। उन्हें जागृत करने की दो पद्धतियां हैं—

१. विशुद्ध लेश्या की भावधारा द्वारा चैतन्य-केन्द्र अपने आप जागृत हो जाते हैं।
२. चैतन्य-केन्द्रों पर अवधान नियोजित करने पर भी वे जागृत हो जाते हैं।

महावीर ने इसीलिए अप्रमाद का सूत्र दिया कि अप्रमत्त रहने वाले व्यक्ति की लेश्या शुद्ध होती है तब चैतन्य-केन्द्र सहज ही जागृत हो जाते है और ये चैतन्य-केन्द्र अप्रमत्त रहने के आलंबन भी बनते हैं। सुप्त चैतन्य-केन्द्रों पर मन विचरण करता है तब कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की भावधारा उभरती है। चैतन्य-केन्द्रों के जागृत हो जाने पर तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्या की भावधारा बनती है।

अप्रमत्त अवस्था में अध्यवसाय (अचेतन मन) शुद्ध बनता है। उससे लेश्या शुद्ध होती है। उसके शुद्ध होने पर ही मनुष्य का स्वभाव बदल सकता है, आदतों में परिवर्तन आ सकता है, रुचि और आकांक्षा को नया मोड़ दिया जा सकता है। लेश्या की शुद्धि हुए बिना जीवन-परिवर्तन की दिशा में एक पैर भी आगे नहीं

बढ़ाया जा सकता। व्यक्तित्व के परिष्कार का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—लेश्या का विशुद्धीकरण, लेश्या के विशुद्धीकरण का सूत्र है—शुद्ध अध्यवसाय और शुद्ध अध्यवसाय का आधार है—धर्म और शुक्ल ध्यान। ध्यान और लेश्या में गहरा संबंध है। ध्यान अशुद्ध होता है तो लेश्या अशुद्ध हो जाती है, आभामंडल विकृत बन जाता है। ध्यान शुद्ध होता है तो लेश्या शुद्ध हो जाती है, आभामंडल स्वस्थ और निर्मल बन जाता है।

अणु-आभा वैज्ञानिक डॉ० जे० सी० ट्रस्ट ने इस विषय का बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से स्पर्श किया है। उनके अनुसार अनेक अशिक्षित लोगों के अणुओं में प्रकाश-रसायन प्राप्त हुए। साधारणत: लोग उन्हीं को सच्चरित्र और धार्मिक मानते हैं जो ऊंचे घरानों में जन्म लेते हैं, गरीबों में धन आदि बांटते हैं तथा प्रातः-सायं उपासना आदि नित्य-कर्म करते है। परंतु उन्हें बहुत से ऐसे लोग मिले जो देखने पर बड़े धर्मात्मा तथा स्वच्छ वस्त्रधारी थे, परंतु उनके अंदर काले अणुओं का वाहुल्य था। इसके विपरीत कितने ही ऐसे अपढ, गंवार तथा बाह्यरूप से भद्दे प्रतीत होने वाले लोग भी देखने को मिले, जिन्हे किसी भी प्रकार कुलीन नहीं कहा जा सकता। परंतु उस समय आश्चर्य की कोई सीमा नहीं रही जब उनके प्रकाशाणुओं की थरथरियों को उनकी आभा में स्पष्ट रूप से देखा गया। आश्चर्य का कारण यह था कि प्रकाशाणुओं का विकास कई वर्ष के सतत परिश्रम और इन्द्रियों के अणुओं के नियंत्रण के पश्चात हो पाता है, परंतु इन लोगो ने अनजाने ही प्रकाशाणुओं को प्राप्त कर लिया था। उन्होंने कभी स्वप्न में भी प्रकाशाणुओं के विकास के विषय में न सोचा होगा।

ऋजुता, जितेन्द्रियता और मानसिक समाधि होती है तब कृष्ण, नील और कापोत—इन तीनों लेश्याओं की भावधारा बदल जाती है और उनसे प्रभावित चैतन्य-केंद्र भी जागृत हो जाते है। मनुष्य अप्रमाद के द्वारा ऋजुता आदि की पवित्र भावना रखना चाहता है, फिर भी वृत्तियों का दबाव पड़ता है, अशुभ कर्म का विपाक होता है और वह अशुभ भावना से घिर जाता है। पूर्वार्जित वृत्तियों और कर्मों को विलीन करने के लिए रंगों का ध्यान भी उपयोगी बनता है।

लेश्या और मानसिक चिकित्सा

हम शुभ भावना करते हैं तब शुभ पुद्गलों का ग्रहण होता है और वे हमारे आभामंडल को निर्मल बनाते है। जैसे अनुकूल भोजन से शरीर पुष्ट होता है और प्रतिकूल भोजन से वह क्षीण होता है उसी प्रकार पवित्र भावना से शरीर और आभामंडल—दोनों स्वस्थ होते है। भय, शोक, ईर्ष्या आदि के द्वारा अनिष्ट पुद्गलों का ग्रहण होता है, उनसे शरीर और आभामंडल—दोनों विकृत होते हैं।

अशुभ भावना से बचने के लिए बाहरी निमित्तों का भी उपयोग किया जा सकता है। वे निमित्त हमारी लक्ष्यपूर्ति में सहयोगी बनते हैं। रंगों की कमी से उत्पन्न होने वाले रोग रंगों की समुचित पूर्ति होने पर मिट जाते हैं, यह उनका शारीरिक प्रभाव है। इसी प्रकार रंगों के परिवर्तन और मात्रा-भेद से मन प्रभावित होता है और चैतन्य-केंद्र भी जागृत होते हैं।

लाल रंग का ध्यान करने से शक्ति-केंद्र (मूलाधार) और दर्शन-केंद्र (आज्ञाचक्र)—ये चैतन्य-केंद्र जागृत होते हैं। पीले रंग का ध्यान करने से आनन्द-केंद्र (अनाहत चक्र) जागृत होता है। श्वेत रंग का ध्यान करने से विशुद्धि-केंद्र (विशुद्धि-चक्र), तैजस-केंद्र (मणिपूर-चक्र) और ज्ञान-केंद्र (सहस्रार-चक्र) जागृत होते हैं।

श्वेत वर्ण ठंडा होता है। वह सूर्य से प्राप्त होने वाले जीवन-तत्त्व और बल को शरीर तक पहुंचाने में कोई बाधा उपस्थित नहीं करता। लाल रंग गर्मी बढ़ाने वाला है। जिसके शरीर में रक्त की गति मंद हो, उसके लिए यह लाभदायक है। किंतु जिसके ज्ञानतंतु दुर्बल हों, उसके लिए यह लाभकारक नहीं है। जो तुरंत थक जाता है और खिन्न रहता है उसके लिए यह रंग बहुत उपयोगी है। पीला रंग भी गर्मी बढाने वाला होता है। उससे ज्ञानतंतु जागृत होते है—स्वस्थ रहते हैं। काला रंग सूर्य की रश्मियों को स्वयं आकर्षित कर लेता है। नीला रंग शीत प्रकृति का होता है। इससे जीवन-शक्ति प्राप्त होती है। इसमें विद्युत्-शक्ति है। यह पौष्टिक और शांति देने वाला है।

रंगों के आधार पर मनुष्य के मनोभावों को पहचाना जा सकता है। जिसे आसमानी रंग पसंद होता है वह बोलने मे दक्ष, सहृदय और गंभीर होता है। वह मनोविकार, उत्साह आदि वृत्तियों पर नियंत्रण पा लेता है। जिसे पीला रंग पसंद हो वह विचारक और आदर्शवादी होता है। लाल रंग को पसंद करने वाला व्यक्ति साहसी, आशावान, सहिष्णु और व्यवहार-कुशल होता है। काले रंग को पसंद करने वाला दीनभावना से घिरा होता है। श्वेत रंग को पसंद करने वाला सात्त्विक वृत्ति और सात्त्विक भावना वाला होता है।

सूर्य का रंग पारे के समान श्वेत, चन्द्रमा का रंग चांदी के समान रूपहला, मंगल का तांबे के समान लाल, बुध का हरा, बृहस्पति का सोने के समान पीला, शुक्र का नील, शनि का आसमानी, राहु का काला, केतु का आसमानी रंग है। इनकी किरणें भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव डालती है। सूर्य की किरणे निर्मल होती हैं तो उनका भिन्न प्रकार का प्रभाव होता है। उसकी किरणों के साथ मंगल आदि दूसरे ग्रहों की किरणें मिल जाती हैं तब उनका प्रभाव दूसरे प्रकार का होता है।

रंगों के गुणों और प्रभावों का यह संकेत मात्र निदर्शन है। प्रत्येक रंग के

अनेक पर्याय होते हैं और प्रत्येक पर्याय के गुण और प्रभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। निर्मल भावना, ध्येय और उसके अनुरूप रंगों का चयन कर अनेक मानसिक समस्याओं को सुलझाया जा सकता है।

लेश्या और ज्ञान

सामान्यतः हमारा ज्ञान पुस्तकीय होता है। हम पुस्तकें पढ़ते हैं और स्मृति के आधार पर पढ़ी हुई बातों को संजोकर रखते हैं। यह स्मृति-ज्ञान है। कुछ ज्ञान अपने चिंतन और मनन के द्वारा प्राप्त करते हैं। हमारे ज्ञान की इतनी छोटी-सी सीमा है। विशिष्ट ज्ञान और अतींद्रिय ज्ञान पढ़ने या चिंतन-मनन से नहीं होता, वह अध्यवसाय और लेश्या की विशुद्धि होने पर होता है। वह आकस्मिक जैसा होता है। पहले क्षण में नहीं होता और अगले क्षण में सहसा प्रकट हो जाता है। यद्यपि वह सहसा प्रकट नहीं होता, लेश्या की विशुद्धि होते-होते होता है, फिर भी उसकी पृष्ठभूमि में कोई अध्ययन, चिंतन-मनन नहीं होता, इसलिए वह सहसा जैसा लगता है। यह आत्मज्ञान है। पुस्तकीय ज्ञान बाहर से लिया हुआ या पुस्तकों के आधार पर चिंतन किया हुआ होता है। आत्मज्ञान भीतर से प्रकट होता है। उसकी उपलब्धि से ही सत्य का द्वार उद्घाटित होता है। इस संदर्भ में शुद्ध लेश्या, उसके सहयोगी पुद्गलों और निर्मल आभामंडल का मूल्यांकन किया जा सकता है।

चैतन्य केन्द्र

जो दृश्य है वह स्थूल शरीर है। इसके भीतर तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर हैं। उनके भीतर आत्मा है। वह चैतन्यमय है। जैसे सूर्य और हमारे बीच में बादल आ जाते है वैसे ही आत्मा के चैतन्य और बाह्य जगत् के बीच में कर्म शरीर के बादल छाए हुए हैं। इसीलिए चैतन्य-सूर्य का पूर्ण प्रकाश बाह्य जगत् पर नहीं पड़ता। बादलों के होने पर भी सूर्य का प्रकाश पूरा ढंक नहीं जाता। वैसे ही कर्म-शरीर का आवरण होने पर भी चैतन्य पूरा आवृत नहीं होता। उसकी कुछ रश्मियां बाह्य जगत् को प्रकाशित करती रहती हैं। मनुष्य अपने प्रयत्न से कर्म शरीरगत ज्ञानावरण को जैसे-जैसे विलीन करता है वैसे-वैसे चैतन्य की रश्मियां अधिक प्रस्फुटित होने लगती हैं। कर्म-शरीरगत ज्ञानावरण की क्षमता जितनी विलीन होती है उतने ही स्थूल शरीर में ज्ञान की अभिव्यक्ति के केंद्र निर्मित हो जाते हैं। ये ही हमारे चैतन्य-केंद्र हैं।

आत्मा के असंख्य प्रदेश (अविभागी अवयव) हैं। ज्ञानावरण उन सबको आवृत किए हुए है। इस आवरण का विलय भी सब प्रदेशों में होता है। आत्मा समूचे शरीर में व्याप्त है, फलतः शरीर की प्रत्येक कोशिका में चैतन्य व्याप्त है, प्रत्येक कोशिका में ज्ञान की क्षमता है। शरीरशास्त्र के अनुसार ज्ञान का स्रोत नाड़ी-संस्थान है। मस्तिष्क और सुषुम्ना के द्वारा ही सब ज्ञान होता है। कर्म-शास्त्र की भाषा में नाड़ी-संस्थान को ज्ञान की अभिव्यक्ति का माध्यम कहा जा सकता है। शरीरशास्त्र के अनुसार शरीर के सारे कोष एक जैसे हैं। कुछ कोषों को विशेषज्ञता प्राप्त हो गयी है, इसलिए वे ज्ञान के स्रोत बन गए हैं। यदि प्रशिक्षित किया जाए तो आंख की चमड़ी और हाथ की अंगुलियों से देखा जा सकता है। कान की हड्डियों की तुलना में दांत ध्वनि का अच्छा वाहक है। दांतों में एक यांत्रिक उपकरण फिट कर उससे कान का काम लिया जा सकता है। पांच इंद्रियों

के ज्ञान-केन्द्र (या ज्ञान-स्रोत) बहुत स्पष्ट हैं। ध्यान-साधना के द्वारा 'संभिन्न-स्रोतोलब्धि' का विकास होने पर समूचा शरीर ही इंद्रिय ज्ञान का केन्द्र (या स्रोत) बन जाता है। संभिन्न स्रोतोलब्धि वाला सब अंगों से सुन सकता है, अथवा एक इंद्रिय से सब इंद्रियों के विषयों को जान सकता है, आंख से सुन सकता है और कान से देख सकता है।

मानसिक ज्ञान का चैतन्य-केन्द्र मस्तिष्क है। मन की सारी वृत्तियां उसके विभिन्न कोष्ठों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। हम इंद्रिय और मन के ज्ञान से ही परिचित है और उनके चैतन्य-केन्द्र ही हमारी शरीर-संरचना में स्पष्ट हैं। इंद्रिय और मन ज्ञान की सीमा नहीं है। वे ज्ञान के आदि-बिंदु हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने शरीरस्थ अपने चैतन्य केन्द्रों को विकसित कर सके तो वह इंद्रिय और मन से अतीत विषयों को जान सकता है। वे चैतन्य-केन्द्र ध्यान के द्वारा विकसित किए जा सकते हैं।

हठयोग और तंत्रशास्त्र में चैतन्य-केन्द्रों को चक्र कहा जाता है। जैन योग में चैतन्य-केन्द्रों के अनेक आकारों का उल्लेख मिलता है, जैसे—शंख, कमल, स्वस्तिक, श्रीवत्स नंद्यावर्त, ध्वज, कलश, हल आदि। ये नाना आकार वाले चैतन्य-केन्द्र इंद्रियातीत ज्ञान के माध्यम बनते हैं। इनके माध्यम से चैतन्य का प्रकाश बाहर फैलता है। अतींद्रियज्ञान का एक प्रकार है अवधिज्ञान। जैसे जालीदार ढक्कन मे रखे हुए दीप का प्रकाश जाली मे से छनकर बाहर आता है, वैसे ही अवधिज्ञान की प्रकाश-रश्मियां इन चैतन्य-केन्द्रों के माध्यम से बाहर आती है। आनुगामिक अवधिज्ञान के दो प्रकार होते है—अंतगत और मध्यगत। जैसे कोई मनुष्य टॉर्च को आगे की ओर करता है तब उसका प्रकाश आगे की ओर फैलता है। जब वह उसे पीछे की ओर करता है तब उसका प्रकाश पीछे की ओर फैलता है। जब वह उसे दाएं-बाएं करता है तब उसका प्रकाश दाएं-बाएं फैलता है। यह एक दिशा में फैलने वाला प्रकाश स्पष्ट होता है। अंतगत अवधिज्ञान भी ऐसा ही होता है। उसका प्रकाश आगे-पीछे या दाएं-बाएं फैलता है। वह जिस दिशा मे फैलता है उस दिशा मे स्पष्ट होता है। किंतु उसका प्रकाश सब दिशाओं मे नही फैलता। यह अवधिज्ञान संपूर्ण शरीर के माध्यम से नहीं होता किंतु जितने चैतन्य-केन्द्र विकसित होते है उतने चैतन्य-केंद्रों के माध्यम से होता है। एक मनुष्य में एक चैतन्य-केन्द्र भी विकसित हो सकता है और अनेक चैतन्य-केन्द्र भी विकसित हो सकते है। इनके विकास का हेतु ध्यान है। जिन चैतन्य-केन्द्रों पर अवधान नियोजित किया जाता है वे विकसित हो जाते है। ध्यान की धारा आगे-पीछे, दाएं-बाएं—जिस दिशा में प्रवाहित होती है उस दिशा के चैतन्य-केन्द्र जागृत हो जाते है और वे चैतन्य रश्मियों के बहिर्निर्गमन के माध्यम बन जाते हैं।

जैसे दीवट पर रखे हुए दीप का प्रकाश चारों दिशाओं में फैलता है वैसे ही

मध्यगत अवधिज्ञान की प्रकाश-रश्मियां समूचे शरीर से बाहर आती हैं।

प्रेक्षा ध्यान की दो पद्धतियां हैं—

१. संपूर्ण शरीर प्रेक्षा।
२. चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा।

संपूर्ण शरीर की प्रेक्षा करने से पूरा शरीर 'करण' बन जाता है, अतींद्रिय-ज्ञान का साधन बन जाता है। इसमें दीर्घकाल, गहन अध्यवसाय, सघन श्रद्धा और धृति की अपेक्षा होती है। कुछ महीनों और वर्षों की प्रेक्षा-साधना से पूरा शरीर 'करण' नहीं बन जाता। उसके लिए बहुत बड़ा अभ्यास जरूरी होता है। इसकी अपेक्षा किसी एक चैतन्य-केन्द्र की प्रेक्षा का अभ्यास कुछ सरल होता है। पूरे शरीर की प्रेक्षा का परिपाक होने पर पूरे शरीर से अतींद्रियज्ञान की प्रकाश-रश्मियां बाहर फैलती है। चैतन्य-केन्द्र की प्रेक्षा से जो चैतन्य-केंद्र जागृत होता है, उसी से अतींद्रियज्ञान की प्रकाश-रश्मियां बाहर फैलती हैं। अतींद्रियज्ञान की दोनों प्रकार की उपलब्धियां ध्यान के दो भिन्न-कोटिक-अभ्यासों पर निर्भर है। जिस व्यक्ति की जैसी श्रद्धा, रुचि, शक्ति और धृति होती है वह उसी पद्धति का चुनाव कर लेता है—कोई संपूर्ण शरीर प्रेक्षा का और कोई चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा का।

प्रेक्षा ध्यान से दो कार्य निष्पन्न होते है—

१. करण-निष्पत्ति।
२. आवरण-विशुद्धि।

जहां अवधान नियोजित होता है वह शरीर-भाग अवधिज्ञान के लिए 'करण' या माध्यम बन जाता है। प्रेक्षा ध्यान का अवधान राग-द्वेष-रहित, समभावपूर्ण होता है, उससे ज्ञान और दर्शन का आवरण विशुद्ध होता है। आवरण के विशुद्ध होने पर जानने की क्षमता बढ़ती है और शरीर-भाग के विशुद्ध होने पर उस विकसित ज्ञान को शरीर से बाहर फैलने का अवसर मिलता है। आवरण की विशुद्धि संपूर्ण चैतन्य मे होती है, किंतु उसका प्रकाश शरीर-प्रदेशों को करण बनाए बिना बाहर नही जा सकता। विद्युत्-प्रवाह (Current) होने पर भी यदि बल्ब न हो तो उसका प्रकाश नहीं होता। ठीक यही बात ज्ञान पर लागू होती है। आवरण की विशुद्धि होने पर चैतन्य का प्रवाह उपलब्ध हो जाता है, फिर भी शरीर प्रदेश की विशुद्धि हुए बिना वह बाह्य अर्थ को नहीं जान सकता, प्रकाशित नहीं कर सकता। इसलिए ज्ञान के क्षेत्र में आवरण-विशुद्धि और करण-विशुद्धि—ये दोनों आवश्यक होती हैं।

चैतन्य-केन्द्र हमारे स्थूल शरीर में होते हैं। नाभि, हृदय, कंठ, नासाग्र, भृकुटि,

तालु, सिर—ये चैतन्य-केन्द्र हैं। आवरण की विशुद्धि होने पर ये जागृत हो जाते हैं, निर्मल हो जाते हैं और अतींद्रिय ज्ञान की अभिव्यक्ति के माध्यम बन जाते हैं। हमारे शरीर में कुछ ग्रंथियां हैं। उनमें भी विशिष्ट क्षमता है। वे भी परिष्कृत होने पर अतींद्रिय ज्ञान की माध्यम बन जाती हैं। इन ज्ञात चैतन्य-केन्द्रों के अतिरिक्त स्थूल शरीर के ऐसे अन्य परमाणु-स्कंध हैं जो अतींद्रिय ज्ञान के माध्यम बनते हैं। परिष्कृत या निर्मल बने हुए परमाणु-स्कंधों को स्थूल-शरीर में देखा नहीं जा सकता। इसीलिए इन चैतन्य-केन्द्रों के विषय में विचार-भिन्नता मिलती है। कुछ लोग इनकी उपस्थिति प्राण-शरीर में मानते हैं और कुछ वासना-शरीर में। ये उन दोनों में हो सकते हैं, किंतु प्राण और वासना शरीर में होने वाले केन्द्रों के संवादी केन्द्र यदि स्थूल शरीर में न हों तो ज्ञान को अभिव्यक्ति नहीं मिल सकती। इंद्रियज्ञान के केंद्र सूक्ष्म शरीर में होते हैं और उनके संवादी केंद्र हमारे स्थूल शरीर में होते हैं, तभी भीतर की ज्ञान-रश्मियां बाह्य जगत में आती हैं। इन चैतन्य-केन्द्रों पर भी यही नियम लागू होता है।

ये चैतन्य-केन्द्र नाभि से ऊपर के भाग में होते हैं। ये केन्द्र विशद होते हैं। कुछ चैतन्य-केन्द्र नीचे भी होते है, वे अविशद होते हैं, इसलिए आध्यात्मिक उत्क्रमण करने वालों के वे नहीं होते।

जैसे इंद्रियों के आकार नियत होते हैं वैसे चैतन्य-केन्द्र एक ही आकार के नहीं होते। ये अनेक आकार के होते हैं। जो आकार बतलाए गए है उनसे भी भिन्न आकार के हो सकते है।

चैतन्य-केन्द्र किसी-किसी व्यक्ति के शीघ्र जागृत हो जाते है और कोई व्यक्ति बहुत प्रयत्न करके भी उन्हे जागृत नहीं कर पाता या बहुत दीर्घकालीन ध्यान के द्वारा कर पाता है। इसका हेतु है—आवरण की सघनता और विरलता। जो व्यक्ति अतीतकाल में ध्यान का अभ्यास कर चुका, उससे जिसका आवरण विरल हो चुका, वह थोड़े से ध्यानाभ्यास के द्वारा अपने चैतन्य-केन्द्र को जागृत कर लेता है। जो व्यक्ति वर्तमान मे ही ध्यान का अभ्यास प्रारंभ करता है, जिसका आवरण सघन है, वह हो सकता है कि दीर्घकालीन ध्यानाभ्यास के बाद चैतन्य-केन्द्रों को जागृत कर पाए और यह भी हो सकता है कि वह अपने वर्तमान जीवन मे चैतन्य-केन्द्रों को पूरा जागृत करने में सफल न हो पाए। इसका अर्थ शुद्ध ध्यान और शुद्ध लेश्या की व्यर्थता नहीं है। उनके अभ्यास से चैतन्य-केन्द्र जागृत होते ही हैं, किंतु जिस मात्रा में जागृति होनी चाहिए और उनके माध्यम से जो विशिष्ट ज्ञान-रश्मियां बाहर फूटनी चाहिए, वे उनके पूर्ण जागृत होने पर ही संभव हो सकती हैं।

तेजोलेश्या (कुंडलिनी)

हम शरीरधारी हैं। शरीर दो प्रकार के हैं—स्थूल और सूक्ष्म। अस्थि-चर्ममय शरीर स्थूल है। तैजस शरीर सूक्ष्म और कर्म-शरीर अति सूक्ष्म है। हमारे पाचन, सक्रियता और तेजस्विता का मूल तैजस शरीर है। वह पूरे स्थूल शरीर में व्याप्त रहता है तथा दीप्ति और तेजस्विता उत्पन्न करता है। विद्युत्, प्रकाश और ताप—ये तीनों शक्तियां उसमें विद्यमान है। शरीर में दो प्रकार की विद्युत् है—घार्षणिक और धारावाही या मानसिक। घार्षणिक विद्युत् का उत्पादन शरीर करता है और धारावाही विद्युत् का उत्पादन मस्तिष्क करता है। मस्तिष्कीय विद्युत्धारा स्नायु-मंडल में संचरित रहती है। वह ज्ञान-तंतुओं के द्वारा मस्तिष्क तक सूचना पहुंचाती है और उससे मिले निर्देशों का शारीरिक अवयवों द्वारा क्रियान्वयन कराती है। इसका मूल हेतु तैजस शरीर है। यह शरीर प्राणीमात्र के साथ निरंतर रहता है। एक प्राणी मृत्यु के उपरान्त दूसरे जन्म में जाता है। उस समय अन्तराल गति में भी तैजस शरीर उसके साथ रहता है। कर्म-शरीर सब शरीरों का मूल है। उसके बाद दूसरा स्थान तैजस शरीर का है। यह सूक्ष्म पुद्‌गलों से निर्मित होता है, इसलिए चर्म-चक्षु से दृश्य नहीं होता। यह स्वाभाविक भी होता है और तपस्या द्वारा उपलब्ध भी होता है। यह तप द्वारा उपलब्ध तैजस शरीर ही तेजोलेश्या है। इसे तेजोलब्धि भी कहा जाता है। स्वाभाविक तैजस शरीर सब प्राणियों में होता है। तपस्या से उपलब्ध होने वाला तैजस शरीर सबमें नहीं होता। वह तपस्या से उपलब्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि तपस्या से तैजस शरीर की क्षमता बढ़ जाती है। स्वाभाविक तैजस शरीर स्थूल शरीर से बाहर नहीं निकलता। तपोजनित तैजस शरीर शरीर के बाहर निकल सकता है। उसमें अनुग्रह और निग्रह की शक्ति होती है। उसके बाहर निकलने की प्रक्रिया का नाम तैजस समुद्‌घात है। जब वह किसी पर अनुग्रह करने के लिए

बाहर निकलता है तब उसका वर्ण हंस की भांति सफ़ेद होता है। वह तपस्वी के दाएं कंधे से निकलता है। उसकी आकृति सौम्य होती है। वह लक्ष्य का हित-साधन कर (रोग आदि का उपशमन कर) फिर अपने मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है।

जब वह किसी का निग्रह करने के लिए बाहर निकलता है तब उसका वर्ण सिन्दूर जैसा लाल होता है। वह तपस्वी के बाएं कंधे से निकलता है। उसकी आकृति रौद्र होती है। वह लक्ष्य का विनाश, दाह कर फिर अपने मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है।

अनुग्रह करने वाली तेजोलेश्या को 'शीत', और निग्रह करने वाली तेजोलेश्या को 'उष्ण' कहा जाता है। शीतल तेजोलेश्या उष्ण तेजोलेश्या के प्रहार को निष्फल बना देती है।

तेजोलेश्या अनुपयोग काल में संक्षिप्त और उपयोग काल में विपुल हो जाती है। विपुल अवस्था में वह सूर्यबिम्ब के समान दुर्दर्श होती है। वह इतनी चकाचौंध पैदा करती है कि मनुष्य उसे खुली आंखों से देख नहीं सकता। तेजोलेश्या का प्रयोग करने वाला अपनी तेजस्-शक्ति को बाहर निकालता है तब वह महाज्वाला के रूप में विकराल हो जाती है।

तेजोलेश्या का स्थान

तैजस शरीर हमारे समूचे स्थूल शरीर में रहता है। फिर भी उसके दो विशेष केन्द्र है—मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठभाग। मन और शरीर के बीच सबसे बड़ा संबंध-सेतु मस्तिष्क है। उससे तैजस शक्ति (प्राणशक्ति या विद्युत् शक्ति) निकलकर शरीर की सारी क्रियाओं का संचालन करती है। नाभि के पृष्ठभाग में खाए हुए आहार का प्राण के रूप में परिवर्तन होता है। अतः शारीरिक दृष्टि से मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठभाग—ये दोनों तेजोलेश्या के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन जाते है। यह तेजोलेश्या एक शक्ति है। इसे हम नहीं देख पाते। इसके सहायक परमाणु-पुद्गल सूक्ष्मदृष्टि से देखे जा सकते है। ध्यान करने वालों को उनका यत्किंचित् आभास होता रहता है।

तेजोलेश्या और प्राण

तेजोलेश्या प्राणधारा है। हमारे शरीर में अनेक प्राणधाराएं हैं। इन्द्रियों की अपनी प्राणधारा है। मन, शरीर और वाणी की अपनी प्राणधारा है। श्वास-प्रश्वास और जीवनी-शक्ति की भी स्वतंत्र प्राणधाराएं है। हमारे चैतन्य का तैजस शरीर के साथ योग होता है और प्राण-शक्ति बन जाती है। सभी प्राणधाराओं का मूल तैजस शरीर है। इन प्राणधाराओं के आधार पर शरीर की क्रियाओं और

विद्युत् आकर्षण के संबंध का अध्ययन किया जा सकता है।

प्राण की सक्रियता से मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की वृत्तियां उठती हैं और जब तक तेजोलेश्या के आनन्दात्मक स्वरूप का विकास नहीं होता तब तक वे उठती ही रहती हैं। कुछ लोग वायु-संयम से उन्हें रोकने का प्रयत्न करते हैं। यह उनके निरोध का एक उपाय अवश्य है, किंतु वायु-संयम (या कुंभक) एक कठिन साधना है। उसमें बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। कहीं थोड़ी-सी असावधानी हो जाती है अथवा योग्य गुरु का पथ-दर्शन नहीं मिलता है तो कठिनाइयां बढ़ जाती हैं। मनःसंयम से चित्तवृत्तियों का निरोध करना निर्विघ्न मार्ग है। इसकी साधना कठिन है, पर यह इसका सर्वोत्तम उपाय है। प्रेक्षा ध्यान के द्वारा इसकी कठिनता को मिटाया जा सकता है। चित्त की प्रेक्षा चित्तवृत्तियों के निरोध का महत्त्वपूर्ण उपाय है।

तेजोलेश्या का विकास

तेजोलेश्या के विकास का कोई एक ही स्रोत नहीं है। उसका विकास अनेक स्रोतों से किया जा सकता है। संयम, ध्यान, वैराग्य, भक्ति, उपासना, तपस्या आदि-आदि उसके विकास के स्रोत हैं। इन विकास-स्रोतों की पूरी जानकारी लिखित रूप में कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। यह जानकारी मौखिक रूप में आचार्य शिष्य को स्वयं देते थे।

गोशालक ने महावीर से पूछा—'भंते! तेजोलेश्या का विकास कैसे हो सकता है?' महावीर ने इसके उत्तर में उसे तेजोलेश्या के एक विकास-स्रोत का ज्ञान कराया। उन्होंने कहा—'जो साधक निरंतर दो-दो उपवास करता है, पारणा के दिन मुट्ठीभर उडद या मूंग खाता है और एक चूल्लू पानी पीता है, भुजाओं को ऊंची कर सूर्य की आतापना लेता है, वह छह महीनों के भीतर ही तेजोलेश्या को विकसित कर लेता है।'

तेजोलेश्या के तीन विकास-स्रोत हैं—

१. आतापना—सूर्य के ताप को सहना।
२. क्षांति-क्षमा—समर्थ होते हुए भी क्रोध-निग्रहपूर्वक अप्रिय व्यवहार को सहन करना।
३. जल-रहित तपस्या करना।

इनमें केवल 'क्षांतिक्षमा' नया है। शेष दो उसी विधि के अंग हैं जो विधि महावीर ने गोशालक को सिखाई थी। तेजोलेश्या के निग्रह-अनुग्रह स्वरूप के विकास के स्रोतों की यह संक्षिप्त जानकारी है। उसका जो आनन्दात्मक स्वरूप है उसके विकास-स्रोत भावात्मक तेजोलेश्या की अवस्था में होने वाली चित्तवृत्तियां

हैं। चित्तवृत्तियों की निर्मलता के बिना तेजोलेश्या के विकास का प्रयत्न खतरों को निमंत्रित करने का प्रयत्न है। वे खतरे शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक—तीनों प्रकार के हो सकते हैं।

जो साधना के द्वारा तेजोलेश्या को प्राप्त कर लेता है वह सहज आनन्द की अनुभूति में चला जाता है। इस अवस्था में विषय-वासना और आकांक्षा की सहज निवृत्ति हो जाती है। इसीलिए इस अवस्था को 'सुखासिका' (सुख में रहना) कहा जाता है। विशिष्ट ध्यान-योग की साधना करने वाला एक वर्ष में इतनी तेजोलेश्या को उपलब्ध होता है कि जिससे उत्कृष्टतम भौतिक सुखों की अनुभूति अतिक्रान्त हो जाती है। उस साधक को इतना सहज सुख प्राप्त होता है जो किसी भी भौतिक पदार्थ से प्राप्त नहीं हो सकता।

तेजोलेश्या के दो रूप

हम चैतन्य और परमाणु-पुद्गल—दोनों को साथ-साथ जी रहे हैं। हमारा जगत् न केवल चैतन्य का जगत् है और न केवल परमाणु-पुद्गल का। यह दोनों के संयोग का जगत् है। चैतन्य की शक्ति से परमाणु-पुद्गल सक्रिय होते हैं और परमाणु-पुद्गलों की सक्रियता से चैतन्य की उनके अनुरूप परिणति होती है। इस नियम के आधार पर तेजोलेश्या के दो रूप बनते हैं—भावात्मक और पुद्गलात्मक। भावात्मक तेजोलेश्या चित्त की विशिष्ट परिणति या चित्तशक्ति है। इस तेजोलेश्या वाले व्यक्ति का चित्त नम्र, अचपल और ऋजु हो जाता है। उसके मन में कोई कुतूहल नहीं होता। उसकी इन्द्रियां सहज शांत हो जाती हैं। वह योगी (समाधि-संपन्न) और तपस्वी होता है। उसे धर्म प्रिय होता है। वह धर्म का कभी अतिक्रमण नहीं करता।

पुद्गलात्मक तेजोलेश्या के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श विशिष्ट प्रकार के होते हैं। उसका वर्ण हिंगुल, बाल सूर्य या प्रदीप की शिखा के समान लाल होता है। उसका रस पके हुए आम्रफल के रस से अत्यधिक मधुर होता है। उसका गंध सुरभि कुसुम से अत्यधिक सुखद होता है। उसका स्पर्श नवनीत या शिरीष कुसुम से भी अत्यधिक मृदु होता है।

तेजोलेश्या और अतीन्द्रिय ज्ञान

तेजोलेश्या और अतीन्द्रिय ज्ञान का परस्पर संबंध है। अतीन्द्रिय ज्ञान का विकास ज्ञानावरण के विलय से होता है। वह तेजोलेश्या से नहीं होता। उसकी अभिव्यक्ति तेजोलेश्या से होती है। तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्या की विचारधारा होती है, अध्यवसाय शुद्ध होता है तब ज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है और अतीन्द्रिय ज्ञान की शक्ति उपलब्ध हो जाती है। किंतु उसका उपयोग चैतन्य-केन्द्र

और शक्ति-संस्थानों के माध्यम से होता है। कोई अवधिज्ञानी अपने ज्ञान का प्रयोग शरीर के किसी एक भाग से या समूचे शरीर से—दोनों प्रकार से करता है। तेजोलेश्या की विद्युत्धारा जिस शक्ति-संस्थान या चैतन्य-केन्द्र पर पड़ती है, वह उपलब्ध क्षमताओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है। विद्युत् जिस प्रकार अपना चुम्बकीय क्षेत्र (Magnetic field) बनाती है, वैसे ही तेजोलेश्या एक चुम्बकीय स्थान का निर्माण करती है। वही क्षेत्र अवधिज्ञान के प्रस्फुटित होने का माध्यम बनता है। तेजोलेश्या की विद्युत्धारा से शक्ति-संस्थान या चैतन्य-केन्द्र जागृत होते हैं, इसका तात्पर्य चुम्बकीय क्षेत्र के निर्माण से है, ज्ञान के अनावरण से नहीं।

जैन योग में कुंडलिनी

योग की उपयोगिता जैसे-जैसे बढ़ती जा रही है, वैसे-वैसे उस विषय में जिज्ञासाएं भी बढ़ती जा रही हैं। योग की चर्चा में कुंडलिनी का सर्वोपरि महत्त्व है। बहुत लोग पूछते हैं कि जैन योग में कुंडलिनी सम्मत है या नहीं? यदि वह एक वास्तविकता है तो फिर कोई भी योग-परंपरा उसे अस्वीकृत कैसे कर सकती है? वह कोई सैद्धान्तिक मान्यता नहीं है, किन्तु एक यथार्थ शक्ति है। उसे अस्वीकृत करने का प्रश्न ही नहीं हो सकता।

जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य में कुंडलिनी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उत्तरवर्ती साहित्य में इसका प्रयोग मिलता है। वह तंत्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव है। आगम और उसके व्याख्या साहित्य में कुंडलिनी का नाम तेजोलेश्या है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि हठयोग में कुंडलिनी का जो वर्णन है उसकी तुलना तेजोलेश्या से की जा सकती है। अग्नि-ज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाली चैतन्य की परिणति का नाम तेजोलेश्या है। यह तप की विभूति से होने वाली तेजस्विता है।

आन्तरिक उपलब्धि

ध्यान, तप और भावना—ये तीनों शक्ति के स्रोत हैं। इनके द्वारा वीतरागता उपलब्ध होती है, चैतन्य का शुद्ध स्वरूप उपलब्ध होता है; मोक्ष उपलब्ध होता है। इनकी धारा जिस दिशा में प्रवाहित होती है वही दिशा उद्‌घाटित हो जाती है। इनसे साधक को अनेक प्रकार की ऋद्धियां या लब्धियां भी प्राप्त होती हैं। ये सामान्य व्यक्ति में नहीं होतीं, इसलिए इन्हें अलौकिक या लोकोत्तर कहा जाता है। कुछ लोग इन्हें चमत्कार मानते हैं। पूर्वाभास, दूरबोध, वस्तुओं का इच्छाशक्ति से निर्माण और परिचालन, स्पर्श से भयानक बीमारियों को मिटाना—ये सब चमत्कार जैसे लगते हैं। चमत्कार का खंडन करने वालों का कहना है कि ये बातें नहीं हो सकतीं। ये प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध हैं। जिन लोगों ने ध्यान के क्षेत्र में अभ्यास किया है वे लोग इस चमत्कारवाद को स्वीकार नहीं करते। उनका अभिमत है कि ये सब चमत्कार नहीं है। ये सारी घटनाएं प्राकृतिक नियमों के आधार पर ही घटित होती हैं। जिन लोगों को इन विषयों में प्राकृतिक नियमों का ज्ञान नही है वे ही इन्हे चमत्कार कह सकते है। ध्यान की परंपरा हजारों वर्ष पुरानी है। ध्यान के आचार्यों ने अनेक प्राकृतिक नियमों की खोज की है। यह जो कुछ घटित होता है, वह प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं है, किंतु प्रकृति के सूक्ष्म नियमों का अवबोध है। रेडियो-तरंगों के संचार-क्रम के नियमों को नहीं जानने वाला दूर-श्रवण को चमत्कार मान सकता है। उसकी दृष्टि में दूर-दर्शन भी एक चमत्कार ही है। किंतु एक वैज्ञानिक के लिए वह कोई चमत्कार नहीं है। 'क्ष' किरणों के द्वारा ठोस वस्तु के पार देखा जा सकता है। तब पार-दर्शन की शक्ति को चमत्कार कैसे माना जाये? हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं करेंगे कि मनुष्य के शरीर मे अनेक रासायनिक द्रव्य हैं। वे विविध संयोगों में बदलते रहते है। भावना के द्वारा शारीरिक विद्युत् और

रासायनिक द्रव्यों में परिवर्तन होता है। ध्यान और तपस्या के द्वारा भी ऐसा घटित होता है। इन आंतरिक परिवर्तनों की रसायनशास्त्र के नियमों द्वारा व्याख्या की जा सकती है। रसायनशास्त्र के सब नियम ज्ञात हो चुके हैं—यह नहीं कहा जा सकता। ऐसे अनेक नियम हो सकते हैं जो आज भी ज्ञात नहीं हैं। सब नियम ज्ञात हो जायेंगे यह गर्वोक्ति सुदूर भविष्य में भी नहीं की जा सकती। इस स्थिति में जिन आंतरिक ऋद्धियों को हम चमत्कार की संज्ञा देते हैं, इसकी अपेक्षा उचित यह होगा कि उन्हें हम प्रकृति के सूक्ष्म नियमों की जानकारी के फलित की संज्ञा दें। इन ऋद्धियों को आध्यात्मिक कहना भी बहुत संगत नहीं लगता। कुछेक ऋद्धियां आध्यात्मिक हो सकती हैं, जैसे—केवलज्ञान। किंतु सभी ऋद्धियां आध्यात्मिक नहीं हैं। बहुत सारी पौद्‌गलिक या भौतिक हैं। वे अन्तर्जगत् में या आंतरिक साधनों से उपलब्ध होती हैं, इसलिए उन्हें अलौकिक कहा जा सकता है किंतु अपौद्‌गलिक या आध्यात्मिक नहीं कहा जा सकता।

दो साधक एक बार मिले। एक को जल पर बैठने की सिद्धि प्राप्त थी। उसने कहा—'आओ, जल पर बैठें।' दूसरे को आकाश में बैठने की सिद्धि प्राप्त थी। उसने कहा—'आओ, आकाश में ही बैठें।' अपनी बात को मोड़ देते हुए उसने फिर कहा—'जल पर बैठने में क्या बड़ी बात होगी? मछलियां उसी में रहती हैं। आकाश में बैठने का क्या महत्त्व होगा? पक्षी आकाश में ही रहते हैं। महत्त्व की बात यह होगी कि हम अध्यात्म का और अधिक विकास करें, समभाव को बढ़ाएं और वीतरागता की दिशा में गतिशील बनें।'

ध्यान से मनुष्य दो दिशाओं में गतिशील होता है। एक दिशा है वीतरागता की और दूसरी दिशा है ऋद्धियों की। वीतरागता आध्यात्मिक उपलब्धि है और ऋद्धि चैतन्य और पुद्‌गल के संयोग से होने वाली उपलब्धि है। वह ध्यान-साधना के प्रासंगिक फलरूप में भी होती है और ध्यान, भावना आदि को विशेष दिशा में प्रवाहित करने पर भी होती है। वह पौद्‌गलिक इसलिए है कि वनौषधि से भी उपलब्ध होती है। सभी ऋद्धियां वनौषधि से प्राप्त नहीं होतीं, कुछेक होती हैं, फिर भी वनौषधि से वे प्राप्त होती हैं इसलिए वे पौद्‌गलिक हैं। वचन-सिद्धि ध्यान-भावना आदि से भी प्राप्त होती है और वनौषधि के प्रयोग से भी प्राप्त होती है। दूरदर्शन, पूर्वजन्म की स्मृति आदि ऋद्धियां वनौषधि से भी उपलब्ध होती हैं। इसलिए वे पौद्‌गलिक हैं। वे मंत्र-साधना के द्वारा भी प्राप्त होती हैं। ध्वनि के स्पंदन और उससे उत्पन्न होने वाली विद्युत् से शरीर और मन में अनेक परिवर्तन होते हैं। उनसे मंत्र, औषधि आदि ऋद्धियां उपलब्ध होती हैं। यह भी आध्यात्मिक या अपौद्‌गलिक प्रक्रिया नहीं है। केवलज्ञान किसी मंत्र, औषधि आदि साधन से उपलब्ध नहीं होता। वह केवल वीतरागता सिद्ध होने पर ही

उपलब्ध होता है। इसलिए वह पूर्ण आध्यात्मिक है।

संयम और लब्धि

कुछ आधुनिक साधकों का अभिमत है कि ध्यान-साधना के लिए संयम अनिवार्य नहीं है। वह ध्यान-साधना से स्वतः प्राप्त होता है। पहले संयम करें और फिर ध्यान का अभ्यास—यह पौर्वापर्य अपेक्षित नहीं है। संयम ध्यान का कारण नहीं, उसका फलित है। यह विचार सर्वथा असंगत नहीं है। ध्यान से संयम फलित होता है, यह एक सचाई है। किंतु संयम की साधना के बिना, राग-द्वेष की धारा को संयत किए बिना, ध्यान की साधना की जाती है, उससे अनेक हानियां भी होती है। ध्यान से जो ऊर्जा प्राप्त होती है वह राग-द्वेष की धारा से जुड़कर अनेक अनाचरणीय कर्म मे प्रवृत्त हो जाती है।

तपस्वियों द्वारा अभिशाप और वरदान देने की घटनाओं से इस तथ्य की पुष्टि होती है। क्रोध जब शांत या क्षीण नहीं है तब शक्ति प्राप्त होगी तो उसका दुष्परिणाम कैसे नहीं होगा ? जिसकी वासना शांत नहीं है वह शक्ति को उपलब्ध होकर अनाचार में प्रवृत्त कैसे नही होगा ? ऐसे साधक भी मिलेंगे जो हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरत नहीं हैं और ऋद्धि को उपलब्ध हैं। इसका फलित यह है कि वह ऋद्धि आध्यात्मिक नहीं है और वह आध्यात्मिक नहीं है इसीलिए जिसमें अहिंसा आदि सदाचार का बीज उप्त नहीं है उसे भी वह उपलब्ध हो जाती है। असंयमी को ऋद्धि उपलब्ध होती है और वह उसका दुरुपयोग करता है। भगवान् महावीर ने संयम को प्रथम स्थान दिया और ध्यान को दूसरा। जो साधक संयम के द्वारा नये कर्मों का संवर नहीं करता, जिसके चित्त मे प्राणीमात्र के प्रति मैत्री की भावना अंकुरित नही होती, जो सत्य के प्रति समर्पित नहीं होता, जिसका चित्त अनासक्त नही होता, उसमें वीतराग-भाव का विकास नहीं हो सकता। जिसमें वीतराग-भाव का विकास नहीं होता उसे आत्मा उपलब्ध नहीं होता। आत्मा की उपलब्धि के लिए वीतराग-भाव जरूरी है। वीतराग-भाव की सिद्धि के लिए समभाव की साधना जरूरी है और समभाव की सिद्धि के लिए संयम जरूरी है। संयम का अर्थ है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना। संयम की सिद्धि के लिए भी मानसिक, वाचिक और कायिक—तीनों प्रकार का ध्यान आवश्यक है। इसीलिए मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—इन तीनों गुप्तियों या त्रिविध ध्यान का अभ्यास संयम के साथ शृंखलित है। गुप्ति की साधना के बिना संयम की साधना नही हो सकती, किंतु ऋद्धि की दिशा में प्रवाहित होने वाली ध्यान की धारा साधक को तब तक उपलब्ध नहीं करानी चाहिए जब तक उसका संयम सिद्ध न हो जाये। व्यवहार सूत्र का एक विधान है कि जो मुनि चौदह वर्षों तक

संयम की साधना कर चुका वह 'स्वप्नभावना' को पढ़ सकता है। पंद्रह वर्ष के बाद 'चारण भावना', सोलह वर्ष के बाद 'तेजोनिसर्ग', सतरह वर्ष के बाद 'आशीविष भावना' और अठारह वर्ष के बाद 'दृष्टिविषभावना' का अध्ययन कर सकता है। इन ग्रंथों में विशिष्ट ऋद्धियों की साधना-पद्धति प्रतिपादित थी। जिसका संयम सिद्ध नहीं होता वह इनका अध्ययन कर ऋद्धियों का दुरुपयोग कर सकता था, इसलिए उक्त विधान किया गया।

मोक्ष के लिए ऋद्धि की प्राप्ति की अनिवार्यता नहीं है। जो साधक वीतराग हो जाते हैं वे कैवल्य को प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं, उन्हें तेजोलब्धि आदि ऋद्धियां उपलब्ध हों या न हों। ऋद्धियों को प्राप्त साधक भी मुक्त हो सकते हैं यदि वे उनका प्रयोग न करें, उनके ध्यान की धारा वीतरागता की दिशा में ही प्रवाहित रहे।

अध्यात्म के क्षेत्र में जो मूल्य वीतरागता का है वह ऋद्धि का नहीं है। सामान्य मनुष्य ऋद्धि को ही साधना की उपलब्धि मानते हैं। वे साधक से पूछते हैं—'इतने वर्ष साधना की, आपको क्या उपलब्ध हुआ?' साधक का यह उत्तर हो कि मुझे समभाव उपलब्ध हुआ है तो वे सोचेंगे कि इसे कुछ भी उपलब्ध नहीं है। यदि कोई साधक कहे कि मुझे जल पर चलने या भूमि से ऊपर उठने की सिद्धि उपलब्ध हुई है तो वे उस साधक को बहुत सम्मान देंगे। उसके प्रति उनका सिर झुक जायेगा। उसे वे दैवीपुरुष या भगवान् स्वीकार कर लेंगे। जल पर चलने या भूमि से ऊपर उठने का स्वयं उसके लिए और दर्शकों के लिए कोई विशेष मूल्य नहीं है। केवल एक चमत्कार है। हर आदमी नहीं कर सकता और वह कर सकता है, इसलिए एक असाधारण कार्य है। सभी ऋद्धियां मूल्यहीन नहीं हैं। कुछ बहुत मूल्यवान है। उनका सही उपयोग किया जाये तो वे साधक को अध्यात्म की दिशा में गतिशील करती हैं।

समभाव का अर्थ है—मन की शांति, समता और संतुलन। उसका मूल्य ऋद्धि से बहुत अधिक है। जिसे वह उपलब्ध होता है उसका मन समस्याओं से मुक्त हो जाता है। कोई मनुष्य इस जगत् में जीये और उसका मन समस्याओं से मुक्त हो, यह कितनी बड़ी उपलब्धि है। यह उस व्यक्ति को भी प्राप्त नहीं होती, जो ऋद्धि को प्राप्त कर चुकता है। शासन-सत्ता और प्रचुर वैभव प्राप्त करने वाले व्यक्ति भी मन की समस्या से मुक्त नहीं होते। उस स्थिति में एक साधक मानसिक समस्या से मुक्त हो जाता है, क्या यह सबसे बड़ी उपलब्धि नहीं है? फिर भी जिनकी दृष्टि आध्यात्मिक नहीं होती वे ऋद्धि को ही उपलब्धि मानते हैं, समभाव को उपलब्धि नहीं मानते।

ऋषि की उपलब्धि के अनेक साधन हैं—विद्या, मंत्र, तंत्र, तपस्या, भावना और ध्यान। इनकी प्रायोगिक पद्धति प्राय: लुप्त हो चुकी है। फिर भी उसके कुछ

बीज आज भी सुरक्षित हैं।

कुछ प्रमुख ऋद्धियां इस प्रकार हैं—

१. केवलज्ञान—पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान।
२. अवधिज्ञान—आंशिक अतीन्द्रिय ज्ञान।
३. मनःपर्यवज्ञान—मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान।
४. बीजबुद्धि—एक बीज-पद को प्राप्त कर उसके सहारे अनेक पदों और अर्थों को जानने की क्षमता।
५. कोष्ठबुद्धि—गृहीत पद और अर्थ की ध्रुव-स्मृति।
६. पदानुसारित्व—एक पद के आधार पर पूरे श्लोक या सूत्र को जानने की क्षमता।
७. संभिन्नस्रोत—(१) किसी भी एक इन्द्रिय के द्वारा सभी इन्द्रियों के विषयों को जानने की क्षमता।
(२) सब अंगों से सुनने की क्षमता।
(३) अनेक शब्दों को एक साथ सुनने और उनका अर्थ-बोध करने की क्षमता।
८. दूर-आस्वादन—दूर से आस्वाद लेने की क्षमता।
९. दूर-दर्शन—दूरस्थ विषयों को देखने की क्षमता।
१०. दूर-स्पर्शन—दूरस्थ विषयों का स्पर्श करने की क्षमता।
११. दूर-घ्राण—दूरस्थ गंध को सूंघने की क्षमता।
१२. दूर-श्रवण—दूरस्थ गंध को सुनने की क्षमता।
१३. चारण और आकाशगामित्व—

- जघा-चारण—सूर्य की रश्मियों का आलंबन ले आकाश में उड़ने की क्षमता। एक ही उड़ान में लाखों योजन दूर तथा हजारों योजन ऊंचा चला जाना।
  धरती से चार अंगुल ऊपर पैरों को उठाकर चलना।
- व्योम-चारण—पद्मासन की मुद्रा में आकाश में उड़ने की क्षमता।
- जल-चारण—जल के जीवों को कष्ट दिए बिना समुद्र आदि जलाशयों पर चलने की क्षमता।
- पुष्प-चारण—वनस्पति को कष्ट दिए बिना फूलों के सहारे चलने की क्षमता।
- श्रेणी-चारण—पर्वतों के शिखरों पर चलने की क्षमता।

- अग्निशिखा-चारण—अग्नि की शिखा का आलंबन ले चलने की क्षमता।
- धूम-चारण—धूम की पंक्ति के सहारे उड़ने की क्षमता।
- मर्कटतंतु-चारण—मकड़ी के जाल का सहारा ले चलने की क्षमता।
- ज्योतिरश्मि-चारण—सूर्य, चांद या अन्य किसी ग्रह-नक्षत्र की रश्मियों को पकड़कर ऊपर जाने की क्षमता।
- वायु-चारण—हवा के सहारे ऊपर उड़ने की क्षमता।
- जलद-चारण—मेघ के सहारे चलने की क्षमता।
- अवश्याय-चारण—ओस के सहारे ऊपर उड़ने की क्षमता।

१४. आमर्ष-औषधि—हस्त, पाद आदि के स्पर्श से व्याधि के अपनयन की क्षमता।

१५. क्ष्वेलौषधि—थूक से व्याधि के अपनयन की क्षमता।

१६. जल्लौषधि—मेल से व्याधि के अपनयन की क्षमता।

१७. मलौषधि—कान, दांत आदि के मल से व्याधि के अपनयन की क्षमता।

१८. विप्रुडौषधि—मल-मूत्र से व्याधि के अपनयन की क्षमता।

१९. सर्वौषधि—शरीर के सभी अंग, प्रत्यंग, नख, दंत आदि से व्याधि के अपनयन की क्षमता।

जिसे ये औषधि-ऋद्धियां (१४ से १९) प्राप्त होती हैं, उसके अवयवों में रोग को दूर करने की क्षमता विकसित हो जाती है और उसके थूक, मेल, मल, मूत्र आदि सुरभित हो जाते हैं।

२०. आस्यविष—वाणी के द्वारा दूसरे में विष व्याप्त करने की क्षमता।

२१. दृष्टिविष—दृष्टि के द्वारा दूसरे में विष व्याप्त करने की क्षमता।

२२. क्षीरास्रवी—
२३. मध्वास्रवी—
२४. सर्पिरास्रवी—
२५. अमृतास्रवी—

१. हाथ के स्पर्श मात्र से विरस भोजन को दूध, मधु, घी और अमृत की भांति सरस करने की क्षमता।
२. दूध, मधु, घी और अमृत की भांति मन को आह्लादित और शरीर को रोमांचित करने की वाचिक क्षमता।

२६. अक्षीण महानस—हाथ के स्पर्श मात्र से भोजन को अखूट करने की क्षमता।

२७. मनोबली—क्षणभर में विपुल श्रुत और अर्थ के चिंतन की मानसिक

क्षमता।

२८. वाग्बली—ऊंचे स्वर से सतत श्रुत का उच्चारण करने पर भी अश्रांत रहने की क्षमता।

२६. कायबली—महीनों तक एक ही आसन में बैठे या खड़े रहने की क्षमता।

३०. वैक्रिय—इसके अनेक प्रकार हैं—

(१) अणिमा—शरीर को छोटा बनाने की क्षमता।
(२) महिमा—शरीर को बड़ा बनाने की क्षमता।
(३) लघिमा—शरीर को वायु से भी हल्का बनाने की क्षमता।
(४) गरिमा—शरीर को भारी बनाने की क्षमता।
(५) अप्रतिघात—ठोस पदार्थों में भी अस्खलित गति करने की क्षमता।
(६) कामरूपित्व—एक साथ अनेक रूपों के निर्माण की क्षमता।

३१. आहारक—एक पुतले का निर्माण कर यथेष्ट स्थान पर भेजने की क्षमता।

३२. तेजस्—शारीरिक विद्युत् के द्वारा अनुग्रह और निग्रह करने की क्षमता। यह हठयोग और तंत्रशास्त्र मे प्रसिद्ध कुंडलिनी शक्ति है।

४

प्रयोग और परिणाम

- अहं-विसर्जन : अभ्यास-क्रम
- कायोत्सर्ग : अभ्यास-क्रम
- संकल्प-शक्ति : अभ्यास-क्रम

अहं-विसर्जन : अभ्यास-क्रम

१. भेदज्ञान का दृढ अभ्यास—'जीवोन्य: पुद्गलश्चान्य:', जीव अन्य है और शरीर अन्य है—यह भेदज्ञान का मन्त्र है। तन्मयता के साथ इसकी पुनरावृत्ति करने से मोह का संस्कार क्षीण होता है। देहासक्ति शिथिल होती है।

आप साधना के प्रारंभ में इस भेदज्ञान मंत्र का ब्रह्ममुहूर्त्त, सायंकाल और सोने के समय आधे-आधे घंटे तक जप करें। इसके अतिरिक्त जब भी समय हो और जब स्मृति में आए तभी इसका जप करे। इस प्रकार छह माह तक इसका जप करने से सत्य उपलब्ध होता है। उसकी उपलब्धि होने पर अहं स्वयं विसर्जित हो जाता है।

२. आत्मानुभूति का ध्यान-योग—अहं का प्रत्यय देहाभिमान के कारण चेतन के मन में उठता है। अचेतन में कोई 'अहं' का प्रत्यय नही होता। इसका कारण यह है कि अचेतन के पीछे कोई प्रेरणा नहीं है। देह और मन के पीछे एक प्रेरणा है। उसके आवरण में छिपी हुई आत्मा हर समय अपने को व्यक्त करने का प्रयत्न करती है, किंतु देह और मन उसके प्रयत्न को पूर्णरूप सफल नहीं होने देते। उस स्थिति मे 'अहं' देह और मन के माध्यम से व्यक्त होता है। फलत: 'अहं' देह और मन से प्रतिबद्ध हो जाता है। जिस मनुष्य में देहाभिमान विद्यमान है, वह आत्मा के स्वरूप का पदार्थ-विश्लेषण नही कर सकता। जो साधक देहाभिमान से मुक्त होकर आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है, उनके अनुभव ही उस स्थिति मे सहायक बनते हैं। आत्मानुभूति का अभ्यास निम्न निर्दिष्ट विधि से किया जा सकता है।

आप सुखासन में बैठ जाइए। दोनों नथुनों के नीचे ऊपर के ओठ पर मन को केन्द्रित कीजिए। वहां श्वास के भीतर जाने और बाहर आने को मानस-चक्षु से देखिए। दस मिनट तक इस श्वासक्रिया को चलने दीजिए। उसके पश्चात् अनुभव करिए कि वहां चैतन्य का स्पंदन हो रहा है। इस अनुभव में जितना लम्बा समय लगा सकें, उतना ही अनुभव स्पष्ट होता जाएगा।

जब चैतन्य के स्पंदन का स्पष्ट अनुभव होने लगे, तब धारणा को मोड़ देना आवश्यक होगा। आप जिस चैतन्य के स्पंदन का अनुभव करते हैं, वह शुद्ध चैतन्य नहीं है। वह मानस स्तरीय है। आप गहराई में जाने की धारणा कीजिए और शुद्ध चैतन्य के साक्षात्कार का अनुभव कीजिए। इस भूमिका में इन्द्रिय और मन से अतीत चैतन्य का अनुभव हो सकेगा। साधना का समय लम्बा होना आवश्यक है। मानस स्तर पर आनन्द की उपलब्धि होती है। वहां रुकने का मन भी होता है। पर चैतन्य की शुद्ध भूमिका पर पहुंचने के लिए वहां रुकना नहीं चाहिए। इस चैतन्य की अनुभूति के अभ्यास से इन्द्रियातीत स्थिति प्राप्त हो सकती है। शब्द और स्पर्श होने पर आप उनके ग्रहण से ऊपर उठ सकते हैं।

उक्त पद्धति के अनुसार शरीर के अन्य अवयवों में भी चैतन्यानुभूति का अभ्यास कीजिए। समग्र शरीर में चैतन्यानुभूति का उदय होने पर आत्मावलम्बी ध्यान सिद्ध हो जाता है।

आत्मानुभूति के ध्यान में कुंभक भी सहायक बनता है। आप किसी भी स्थिति में, बैठे या खडे, केवल कुंभक कर सकते हैं। आप मानसिक संकल्प कीजिए और उसी के साथ प्राण को स्थिर कर डालिए। कुछ समय तक उसी स्थिति मे रहिए। अभ्यास बढाते-बढाते दो-तीन मिनट के कुंभक का अभ्यास कर लीजिए। केवल कुंभक रेचक और पूरक के बिना किया जाता है। प्राण सहजभाव से बाहर निकला हुआ हो या भीतर गया हुआ हो—दोनों स्थितियों मे केवल कुंभक किया जा सकता है। कुंभक प्राणायाम का ही एक अंग है। इससे मन लीन हो जाता है। मन को लीन करने की जितनी प्रक्रियाएं हैं, उनसे तात्कालिक लाभ होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर कुंभक के द्वारा लीन मन को आत्मानुभूति की अजस्र धारा मे प्रवाहित कर देना चाहिए। मन के उन्मूलन की यह श्रेष्ठ प्रक्रिया है। उन्मूलित मन फिर विक्षेप उत्पन्न नहीं करता। इससे अहंवृत्ति स्वयं उन्मूलित हो जाती है।

३. शून्यता का अभ्यास—वैज्ञानिक धातु को ठंडा करता जा रहा था। जैसे ही वह परम शून्य के निकट पहुंची तो उसने पाया कि प्रतिरोध-शक्ति विलुप्त हो गई है। उसके विलुप्त होने पर प्रतिक्रिया-शून्य असीम शक्ति का स्रोत प्राप्त होने की संभावना बन गई।

हमारे भीतर भी प्रतिरोध-शक्ति है। उसका नाम 'अहं' है। इसके रहते हुए परमशून्य तक नहीं पहुंच पाते। इसका विसर्जन होने पर हम प्रतिक्रियाविहीन असीम शक्ति के स्रोत मे बदल जाते हैं। इसी परिवर्तन का नाम है—आत्मोदय या अस्तित्व का उदय।

दैहिक स्वरूप में अस्तित्व का आरोपण, ममकार और दैहिक प्रवृत्ति का विसर्जन करने पर शून्यता सिद्ध होती है। सर्वप्रथम आप कायोत्सर्ग का अभ्यास कीजिए। श्वास को दीर्घ और मन्द कीजिए। इससे दैहिक-शून्यता प्राप्त हो जाएगी। इसके पश्चात् वस्तुओं पर आरोपित ममत्व का विसर्जन कीजिए। इससे मानसिक-शून्यता प्राप्त होगी। फिर अस्तित्व के चिन्मय, आनन्दमय और शक्तिमय स्वरूप से तादात्म्य का अनुभव कीजिए। इससे अहं का प्रत्यय विलीन हो जाएगा।

अहंकार, ममकार और चंचलता के विसर्जित होने पर एक असाधारण शून्यता प्राप्त होती है। यह शून्यता मूर्च्छा या निद्रा जैसी शून्यता नहीं होती। इसमें चैतन्य की अनुभूति तीव्र हो जाती है। यह शून्याशून्य की स्थिति है। इसे निषेध की भाषा में शून्यता और विधि की भाषा मे मन के चैतन्य के साथ माध्यम-विहीन संपर्क कहा जा सकता है।

कायोत्सर्ग : अभ्यास-क्रम

कायोत्सर्ग (शरीर-विसर्जन) की पहली प्रक्रिया शिथिलीकरण है। यदि आप बैठे-बैठे कायोत्सर्ग करना चाहते हैं तो सुखासन में बैठ जाइए—पालथी बांधकर या अर्द्ध पद्मासन या पद्मासन लगाइए। फिर रीढ़ की हड्डी और गर्दन को सीधा कीजिए। यह ध्यान रहे कि उनमें न झुकाव हो और न तनाव हो। शिथिल भी रहें और सीधे सरल भी। अब दीर्घश्वास लीजिए। श्वास को उतना लम्बाइए जितना बिना किसी कष्ट के लम्बा सकें। इससे शरीर और मन—दोनों के शिथिलीकरण में बड़ा सहारा मिलेगा। आठ-दस बार दीर्घश्वास लेने के बाद वह क्रम सहज हो जाएगा। फिर शिथिलीकरण में मन को लगाइए। स्थिर बैठने से कुछ-कुछ शिथिलीकरण तो अपने आप हो जाता है। अब विचारधारा द्वारा प्रत्येक अवयव को शिथिल कीजिए। मन को उसी अवयव में टिकाइए, जिसे आप शिथिल कर रहे हैं। अवयवों को शिथिल करने का क्रम यह रखिए—गर्दन, कंधा, छाती, पेट—दाएं-बाएं, पृष्ठ-भाग, भुजा, हाथ, हथेली, उंगली, कटि, टांग, पैर और अंगुलि। अब मांसपेशियों को शिथिल कीजिए। इस प्रकार अवयवों और मांसपेशियों के शिथिलन के बाद स्थूल शरीर से संबंध-विच्छेद और सूक्ष्म शरीर से दृढ़ संबंध-स्थापन का ध्यान कीजिए।

सूक्ष्म शरीर दो है—तैजस और कार्मण।

तैजस शरीर विद्युत् का शरीर है। उसके साथ संबंध स्थापित कर प्रकाश का अनुभव कीजिए। शक्ति और दीप्ति का यह प्रबल माध्यम है।

कार्मण शरीर के साथ संबंध स्थापित कर भेद-विज्ञान का अभ्यास कीजिए।

इस भूमिका में ममत्व-विसर्जन हो जाएगा।

शरीर मेरा है—यह मानसिक भ्रांति विसर्जित हो जाएगी।

यदि आप सोकर कायोत्सर्ग करना चाहते हैं तो—

१. सीधे लेट जाएं।
२. सिर से लेकर पैर तक के अवयवों को पहले तानें और फिर क्रमशः उन्हें शिथिल करें।
३. दीर्घश्वास लें।
४. सममात्रा में श्वास लें।
५. मन को श्वास-प्रश्वास में लगा किसी एक विचार पर स्थिर हो जाएं।
 सुप्त कायोत्सर्ग में दोनों हाथों-पैरों को अलग-अलग रखिए।

यदि आप खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना चाहते हैं तो—

१. पैरों के पंजों को पीछे से सटाकर और आगे से चार अंगुल के अंतर से स्थापित कर खड़े हो जाइए।
२. दोनों हाथों को नीचे की ओर फैला दीजिए।
३. दीर्घश्वास लीजिए।
४. मानसिक निरीक्षण के साथ-साथ शरीर के हर अवयव को शिथिल कीजिए और ध्यान में मग्न हो जाइए।

कायोत्सर्ग के साथ यथास्थान इन संकल्पों को दोहराइए—

१. शरीर शिथिल हो रहा है।
२. श्वास शिथिल हो रहा है।
३. स्थूल शरीर का विसर्जन हो रहा है।
४. तैजस शरीर प्रदीप्त हो रहा है।
५. कार्मण शरीर भिन्न हो रहा है।
६. ममत्व विसर्जन हो रहा है।
७. मैं आत्मस्थ हो रहा हूं।

संकल्प-शक्ति : अभ्यास-क्रम

मन को किसी एक विचार से पुष्ट करें, दृढ़ निश्चय करें। उसे कुछ क्षणों तक ऊंचे स्वर में बोलकर दोहराएं। फिर कुछ क्षणों तक उसे मंद स्वर में दोहराएं। फिर उसे मानसिक रूप में दोहराएं। फिर श्वास-संयम कर उसे दोहराएं। तत्पश्चात् यह भावना करें कि मस्तिष्क के पिछले भाग से रश्मियां निकल रही हैं। वे कार्यक्षेत्र में पहुंचकर अपना कार्य कर रही हैं। संकल्प की पुष्टि के लिए सोने से पूर्व का समय सबसे अच्छा होता है। निद्रा अवस्था में स्थूल मन सुषुप्त और सूक्ष्म मन सक्रिय होता है। जो बात सूक्ष्म मन तक पहुंच जाती है, वह सद्यः क्रियान्वित होती है। संकल्प की सफलता के लिए कायोत्सर्ग (शिथिलीकरण) में अपने संकल्प को दोहराएं। श्वास को लेते समय संकल्प को दोहराएं। श्वास के रेचन-काल मे उसे नहीं दोहराना चाहिए।

संयम और संकल्प में बहुत निकटता है। संकल्प की सिद्धि के लिए संयम के अनेक प्रयोग किए जा सकते है। जैसे—

१. एक घंटा सर्दी सहूंगा, कष्ट से विचलित नहीं होऊंगा।
२. एक घंटा गर्मी सहूंगा, कष्ट से विचलित नही होऊंगा।
३. एक घंटा भूख सहूंगा, कष्ट से विचलित नहीं होऊंगा।
४. एक घंटा प्यास सहूंगा, कष्ट से विचलित नहीं होऊंगा।

इस प्रकार संकल्प-शक्ति के अनेक प्रकार किए जा सकते हैं।

यदि आप आयुर्वेद से परिचित हों तो जानते होंगे कि आठ पुटी अभ्रक और हजार पुटी अभ्रक में शक्ति का कितना अंतर है? जितनी पुटें होंगी, उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ जाएगी। औषधियों के प्रकरण में भावना का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। उसी प्रकार मन में भावना की पुट देने से जो कार्य हम करेंगे उसमें

दूसरा विकल्प बाधक नहीं बनेगा। अशांति क्यों है ? इसीलिए कि आप अधिकांश प्रतिक्रियात्मक जीवन जीते हैं। घटना कहीं घटित होती है, उसका असर आप पर होता है। बादल कहीं बरसते हैं, ठंडी हवा हमारे घर आती है। वर्षा और आतप का आकाश पर क्या असर पड़ता होगा ? मनुष्य की चमड़ी पर उसका असर पड़ता है। यह सब परिस्थितियों के कारण होता है। मन की दुर्बलता के कारण एवं संकल्प-शक्ति के अभाव में ही यह स्थिति पैदा होती है।

अनुप्रेक्षा : अभ्यास-क्रम

कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठकर किसी एक अनुप्रेक्षा का आलंबन लें।

१. अनित्य अनुप्रेक्षा

यह शरीर पहले या पीछे एक दिन अवश्य ही छूट जाएगा। विनाश और विध्वंस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाएं होती हैं। शरीर की भांति अन्य पदार्थों की अनित्यता की भी अनुप्रेक्षा की जा सकती है।

२. अशरण अनुप्रेक्षा

धन, पदार्थ और परिवार कोई भी त्राण नहीं बन सकता। अपना त्राण अपने में ही खोजा जा सकता है।

३. संसार अनुप्रेक्षा

जीव जन्म-मरण के चक्कर में फंसा हुआ है। वह कभी जन्म लेता है और कभी मरता है, कभी पशु होता है और कभी मनुष्य। परिवर्तन का चक्र चलता रहता है।

४. एकत्व-अनुप्रेक्षा

मनुष्य अकेला जन्मता है और अकेला ही मरता है। संज्ञा, विज्ञान और वेदना—ये सब व्यक्तिगत होते हैं।

५. अन्यत्व अनुप्रेक्षा

कामभोग मुझ से भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूं। पदार्थ मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूं।

६. अशौच अनुप्रेक्षा

यह शरीर अपवित्र है। इससे निरंतर विकारों का स्राव होता रहता है।

अनुप्रेक्षा की कुछ दिशाएं निर्दिष्ट की गयी हैं। इनके अनुसार अन्य अनेक अनुप्रेक्षाओं का प्रयोग किया जा सकता है। जैसे शरीर पर प्रतिदिन मैल जमता है, वैसे ही मन पर भी कषाय का मैल जमता रहता है, मूर्च्छा सघन होती रहती है। उस मैल को धोने और मूर्च्छा की सघनता को नष्ट करने के लिए अनुप्रेक्षा का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह प्रतिदिन कम से कम एक घंटा का होना चाहिए और तीन या छह मास तक निरतर चलना चाहिए।

भावना : अभ्यास-क्रम

कायोत्सर्ग करें। पांच-दस दीर्घ श्वास ले। जिस चिंतन से मन को भावित करना चाहते हैं, मन मे जो संस्कार निर्मित करना चाहते है उसे दोहराना शुरू करे। उसमे तन्मय हो जाएं। उस आलंबन के सिवाय दूसरा कोई विकल्प मन मे न लाए। भाव्य विषय के साथ तादात्म्य स्थापित करें।

जप भी भावना का एक प्रकार है। किसी मत्र-जप का अभ्यास भी भावना की विधि से किया जा सकता है। भावना की पुष्टि के लिए एक विषय की भावना का प्रतिदिन कम-से-कम एक घटा और पूर्ण सफलता के लिए तीन घटा का अभ्यास करना चाहिए और यह अभ्यास-क्रम तीन या छह मास की अवधि तक निरतर चलना चाहिए।

भावना-प्रयोग गुण-संक्रमण का सिद्धांत है। हम जिसकी भावना करते है उसका गुण हमारी आत्मा मे परिणत हो जाता है।

भावक्रिया : अभ्यास-क्रम

अपनी दनिक प्रवृत्तियो मे भावक्रिया का अभ्यास करे—वर्तमान क्रिया में तन्मय रहने का अभ्यास करे। जैसे—चलते समय केवल चलने का ही अनुभव हो, खाते समय केवल खाने का आदि। जो क्रिया करे उसकी स्मृति बनी रहे।

दीर्घश्वास प्रेक्षा : अभ्यास-क्रम

सुखासन या पद्मासन मे स्थित हो कायोत्सर्ग करे। श्वास-प्रश्वास को प्रयत्नपूर्वक दीर्घ—लंबा करें। मन को नथुने मे स्थापित करे। आते-जाते प्रत्येक श्वास को देखें। मन केवल श्वास को देखने मे लगा रहे और कोई विकल्प न किया जाए।

दीर्घश्वास लयबद्ध होना चाहिए। प्रथम श्वास लेने मे जितना समय लगे

उतना ही समय अन्य श्वास लेने में लगना चाहिए। इसी प्रकार प्रश्वास में भी समान समय लगना अपेक्षित है।

दीर्घश्वास के अभ्यास से सुप्त चैतन्य और शक्ति के केन्द्र जागृत होते हैं। हमारे शरीर में हृदय, भृकुटी, ललाट-मध्य, मस्तिष्क के मध्यभाग और लघु मस्तिष्क में विशिष्ट चैतन्य-केन्द्र हैं। प्रेक्षाध्यान की पद्धति में हृदयस्थ चैतन्य-केन्द्र को आनन्द-केन्द्र, भृकुटिस्थ चैतन्य-केन्द्र को दर्शन-केन्द्र, ललाट-मध्यस्थ चैतन्य-केन्द्र को ज्योति-केन्द्र, मस्तिष्क मध्यभागस्थ चैतन्य-केन्द्र को ज्ञानकेन्द्र, लघुमस्तिष्कस्थ चैतन्य-केन्द्र को अतीन्द्रिय ज्ञान-केन्द्र कहा जाता है।

उपस्थ के पार्श्वभाग, नाभि, फुफ्फस, कंठ और नासाग्र में विशिष्ट शक्ति-केन्द्र हैं। प्रेक्षा ध्यान-पद्धति के अनुसार गुदा-स्थित केन्द्र को 'शक्ति-केन्द्र', उपस्थ के पार्श्वभाग-स्थित शक्ति-केन्द्र को 'स्वास्थ्य-केन्द्र', नाभि-स्थित शक्ति-केन्द्रों को 'तैजस-केन्द्र', फुफ्फस-स्थित शक्ति-केन्द्रों को 'नियामक-केन्द्र', कंठ-स्थित शक्ति-केन्द्रों को 'विशुद्धि-केन्द्र' और नासाग्र-स्थित शक्ति-केन्द्रों को 'प्राण-केन्द्र' कहा जाता है।

समवृत्ति श्वासप्रेक्षा : अभ्यास-क्रम

सुखासन या पद्मासन में स्थित हो कायोत्सर्ग करें। जिस नथुने से श्वास आता हो उससे श्वास लें और दूसरे नथुने से निकालें। फिर जिससे निकाला उससे श्वास लें और दूसरे नथुने से छोड़ें। हर आवृत्ति में श्वास-प्रश्वास का यही क्रम रहे। मन श्वास के साथ-साथ चले। इसमें एक नथुने को अंगुली से बंद कर दूसरे से श्वास लिया जाता है और इसी प्रकार छोडा जाता है। किंतु अंगुली का प्रयोग कभी-कभी भले ही करें, मुख्यतया संकल्प के बल पर ही श्वास लेने या छोडने का अभ्यास करें। प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में समान समय लगाएं और मन निरंतर श्वास की प्रेक्षा करता रहे। समवृत्ति श्वास की प्रेक्षा से विशेषतः अतीन्द्रियज्ञान के चैतन्य-केन्द्र जागृत होते हैं।

शरीर-प्रेक्षा : अभ्यास-क्रम

प्रेक्षा का अभ्यास दो प्रकार से किया जा सकता है—पूरे शरीर की प्रेक्षा और शरीर के कुछ विशिष्ट चैतन्य-केन्द्रों की प्रेक्षा।

सर्व शरीर प्रेक्षा

सुखासन या पद्मासन में स्थित हो कायोत्सर्ग करें। सिर से लेकर पैर तक क्रमशः शरीर के प्रत्येक अवयव को मानसिक चक्षु से देखें, पहले बाहर के और फिर भीतर के पर्यायों को देखें। शरीरगत सुखद व दुःखद स्पन्दनों का अनुभव

करें। प्रिय और अप्रिय स्पन्दनों के प्रति तटस्थ रहें।

देश शरीर प्रेक्षा

विशिष्ट चैतन्य-केन्द्रों की प्रेक्षा करें तब उन केन्द्रों को लंबे समय तक देखते रहें। विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न केन्द्रों की प्रेक्षा अपेक्षित होती है। इसलिए इस विषय में प्रेक्षा ध्यान का अभ्यास किसी अनुभवी व्यक्ति के पथ-दर्शन में ही करना चाहिए।

अनिमेष प्रेक्षा : अभ्यास-क्रम

एक बिंदु पर दृष्टि टिकाएं। वह बिंदु दृष्टि की समरेखा में दो या तीन फीट की दूरी पर होना चाहिए। उसे अपलक देखते रहें। पलक झपके नहीं। यदि झपक जाए तो दूसरी बार फिर शुरू करें, किंतु अनिमेष ध्यान का समय लगातार जितने समय तक अपलक रहे, उतना ही माना जाए। प्रारम्भिक अभ्यास पांच मिनिट से शुरू करें। फिर धीरे-धीरे समय बढ़ाएं। आधा घंटा या चालीस मिनिट तक इस अनिमेष प्रेक्षा का अभ्यास किया जाए। इससे अधिक यदि करना हो तो वह किसी अनुभवी के पथ-दर्शन में ही किया जाए। अनिमेष प्रेक्षा का अभ्यास नासाग्र और भृकुटी पर भी किया जा सकता है। नासाग्र पर किया जाने वाला अभ्यास बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। अभ्यासकाल में पूरी एकाग्रता रहे, मस्तिष्क मे कोई विचार न घूमे, ध्यान इधर-उधर न बंटे, इतनी तन्मयता से देखें कि सारी शक्ति देखने में ही लग जाए। देखने वाला दृष्टि ही बन जाए।

अनिमेष प्रेक्षा के अभ्यास से मस्तिष्क के विशेष कोश जागृत होते है, आंतरिकज्ञान प्रस्फुटित होता है। किसी भी वस्तु की गहराई मे जाकर उसके आंतरिक स्वरूप को समझने की क्षमता विकसित होती है।

परिशिष्ट-१

महावीर के साधना-प्रयोग

महावीर ने दीक्षित होकर पहला प्रवास कर्मारग्राम में किया। ध्यान का पहला चरण-विन्यास वहीं हुआ। वह कैवल्य-प्राप्ति तक स्पष्ट होता चला गया।

कुछ साधक ध्यान के विषय में निश्चित आसनों का आग्रह रखते थे। महावीर इस विषय में आग्रहमुक्त थे। वे शरीर को सीधा और आगे की ओर कुछ झुका हुआ रखते थे। वे कभी बैठकर ध्यान करते और कभी खड़े होकर। वे अधिकतर खड़े होकर ध्यान किया करते थे। वे शिथिलीकरण को ध्यान के लिए अनिवार्य मानते थे, इसलिए वे खड़े हों या बैठे, कायोत्सर्ग की मुद्रा में ही रहते थे। वे श्वास की सूक्ष्म क्रिया के अतिरिक्त अन्य सभी (शारीरिक, वाचिक और मानसिक) क्रियाओं का विसर्जन किये रहते थे।

कुछ साधक ध्यान के लिए निश्चित समय का आग्रह रखते थे। महावीर इस आग्रह से मुक्त थे। वे अधिकांश समय ध्यान में रहते थे। उन्हें न शास्त्रों का अध्ययन करना था, और न उपदेश। उन्हे करना था अनुभव या प्रत्यक्षबोध। वे दूसरों की गायें चराने वाले ग्वाले नहीं थे जो समूचे दिन उन्हें चराते रहें और दूध दुहने के समय उनके स्वामियों को सौंप आएं। वे अपनी गायें चराते और उनका दूध दुहते थे।

महावीर सालंबन और निरालंबन—दोनों प्रकार का ध्यान करते थे। वे मन को एकाग्र करने के लिए दीवार का आलंबन लेते थे। वे प्रहर-प्रहर तक तिर्यग्-भित्ति (दीवार) पर अनिमेषदृष्टि टिकाकर ध्यान करते थे। इस त्राटक-साधना से केवल उनका मन ही एकाग्र नहीं हुआ, उनकी आंखें भी तेजस्वी हो गयीं। ध्यान के विकासकाल में उनकी त्राटक-साधना (अनिमेषदृष्टि) बहुत लम्बे समय तक चलती थी।

एक बार भगवान् दृढभूमि प्रदेश में गये। पेढाल नाम का गांव और पोलाश

नाम का चैत्य। वहां भगवान् 'एकरात्रिकी प्रतिमा' की साधना की। आरंभ में तीन दिन का उपवास किया। तीसरी रात को शरीर का व्युत्सर्ग कर खड़े हो गए। दोनों पैर सटे हुए थे और हाथ पैरों से सटकर नीचे की ओर झुके हुए थे। दृष्टि का उन्मेष-निमेष बंद था। उसे किसी एक पुद्गल (बिंदु) पर स्थिर और सब इन्द्रियों को अपने-अपने गोलकों मे स्थापित कर ध्यान मे लीन हो गए।

यह भय और देहाध्यास के विसर्जन की प्रकृष्ट साधना है। इसका साधक ध्यान की गहराई मे इतना खो जाता है कि उसे संस्कारों की भयानक उथल-पुथल का सामना करना पड़ता है। उस समय जो अविचल रह जाता है, वह प्रत्यक्ष अनुभव को प्राप्त करता है। जो विचलित हो जाता है वह उन्मत्त, रुग्ण या धर्मच्युत हो जाता है। भगवान् ने इस खतरनाक शिखर पर बारह बार आरोहण किया था।

साधना का ग्यारहवां वर्ष चल रहा था। भगवान् सानुलट्ठिय गांव मे विहार कर रहे थे। वहा भगवान् ने भद्र प्रतिमा की साधना प्रारंभ की। वे पूर्व दिशा की ओर मुंह कर कायोत्सर्ग की मुद्रा मे खड़े हो गए। चार प्रहर तक ध्यान की अवस्था मे खड़े रहे। इसी प्रकार उन्होंने उत्तर, पश्चिम और दक्षिण दिशा की ओर अभिमुख होकर चार-चार प्रहर तक ध्यान किया।

इस प्रतिमा मे भगवान् को बहुत आनन्द का अनुभव हुआ। वे उसकी शृंखला मे ही महाभद्र प्रतिमा के लिए प्रस्तुत हो गए। उसमें भगवान् ने चारो दिशाओ मे एक-एक दिन-रात तक ध्यान किया।

ध्यान की श्रेणी इतनी प्रलंब हो गयी कि भगवान् उसे तोड़ नही पाए। वे ध्यान के इसी क्रम मे सर्वतोभद्र प्रतिमा की साधना मे लग गए। चारों दिशाओ, चारों विदिशाओं, ऊर्ध्व और अध —इन दसों दिशाओं मे एक-एक दिन-रात तक ध्यान करते रहे।

भगवान् ने कुल मिलाकर सोलह दिन-रात तक निरंतर ध्यान-प्रतिमा की साधना की।

भगवान् ध्यान के समय ऊर्ध्व, अध: और तिर्यक—तीनों को ध्येय बनाते थे। ऊर्ध्व लोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए वे ऊर्ध्व-दिशापाती ध्यान करते थे। अधो लोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए वे अधो-दिशापाती ध्यान करते थे। तिर्यक् लोक के द्रव्यो का साक्षात् करने के लिए वे तिर्यक्-दिशापाती ध्यान करते थे।

वे ध्येय का परिवर्तन भी करते रहते थे। उनके मुख्य-मुख्य ध्येय थे—

१. ऊर्ध्वगामी, अधोगामी और तिर्यग्गामी कर्म।
२. बंधन, बंधन-हेतु और बंधन-परिणाम।
३. मोक्ष, मोक्ष-हेतु और मोक्ष-सुख।

४. सिर, नाभि और पादांगुष्ठ।
५. द्रव्य, गुण और पर्याय।
६. नित्य और अनित्य।
७. स्थूल—संपूर्ण जगत्।
८. सूक्ष्म—परमाणु।
९. प्रज्ञा के द्वारा आत्मा का निरीक्षण।

भगवान् ध्यान की मध्यावधि में भावना का अभ्यास करते थे। उनके भाव्य विषय ये थे—

१. एकत्व—जितने संपर्क है, वे सब सांयोगिक है। अंतिम सत्य यह है कि आत्मा अकेला है।
२. अनित्य—संयोग का अन्त वियोग में होता है। अतः सब संयोग अनित्य है।
३. अशरण—अंतिम सच्चाई यह है कि व्यक्ति के अपने संस्कार ही उसे सुखी और दुःखी बनाते हैं। बुरे संस्कारों के प्रकट होने पर कोई भी उसे दुःखानुभूति से बचा नहीं सकता।

भगवान् ध्यान के लिए प्रायः एकान्त स्थान का चुनाव करते थे। वे ध्यान खड़े और बैठे—दोनों अवस्थाओं मे करते थे। उनके ध्यानकाल मे बैठने के मुख्य आसन थे—पद्मासन, पर्यंकासन, वीरासन, गोदोहिक और उत्कटिका।

भगवान् ध्यान की श्रेणी का आरोहण करते-करते उच्चतम कक्षाओं मे पहुंच गए। वे लम्बे समय तक कायिक-ध्यान करते। उससे श्रान्त होने पर वाचिक और मानसिक। कभी द्रव्य का ध्यान करते, फिर उसे छोड पर्याय के ध्यान में लग जाते। कभी एक शब्द का ध्यान करते, फिर उसे छोड दूसरे शब्द के ध्यान में प्रवृत्त हो जाते।

भगवान् परिवर्तनयुक्त ध्येय वाले ध्यान का अभ्यास कर अपरिवर्तित ध्येय वाले ध्यान की कक्षा मे आरूढ हो गए। उस कक्षा मे वे कायिक, वाचिक या मानसिक—जिस ध्यान मे लीन हो जाते, उसी मे लीन रहते। द्रव्य या पर्याय मे से किसी एक पर स्थित हो जाते। शब्द का परिवर्तन भी नही करते। वे इस कक्षा का आरोहण कर भ्रांति की अवस्था को पार कर गए।

भगवान् की ध्यानमुद्रा अनेक ध्यानाभ्यासी व्यक्तियों को आकृष्ट करती रही है। उनमे एक आचार्य हेमचन्द्र भी हैं। उन्होंने लिखा है—

'भगवन्! तुम्हारी ध्यानमुद्रा—पर्यंकशायी और शिथिलीकृत शरीर तथा नासाग्र पर टिकी हुई स्थिर आंखों—मे साधना का जो रहस्य है, उसकी प्रतिलिपि सबके लिए करणीय है।'

भगवान् प्रायः मौन रहने का संकल्प पहले ही कर चुके है। अब जैसे-जैसे ध्यान की गहराई मे जा रहे है, वैसे-वैसे उसका अर्थ स्पष्ट हो रहा है। वाक् और स्पन्दन का गहरा संबंध है। विचार की अभिव्यक्ति के लिए वाणी और वाणी के लिए मन का स्पन्दन—ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। नीरव होने का अर्थ है मन का नीरव होना। भगवान् के सामने एक तर्क उभर रहा है—जिसे मैं देखता हूं, वह बोलता नही है और जो बोलता है, वह मुझे दिखता नहीं है, फिर मैं किससे बोलूं ? इस तर्क के अन्तम् मे उनका स्वर विलीन हो रहा है।

भगवान् बोलने के आवेग के वश में नहीं है। बोलना उनके वश में है। वे उचित अवसर पर उचित और सीमित शब्द ही बोलते हैं। वे भिक्षा की याचना और स्थान की स्वीकृति के लिए बोलते है। इसके सिवा किसी से नहीं बोलते। कोई कुछ पूछता है तो उसका संक्षिप्त उत्तर दे देते है। शेष सारा समय अभिव्यक्ति और संपर्क से अतीत रहता है।

तप और ध्यान

- **उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।**

भगवान् ने पूर्व-अर्जित दुःखों को क्षीण करने के लिए तपस्या की।

- **अणुत्तरं झाणवरं झियाइ।**

भगवान् ने सत्य की प्राप्ति के लिए ध्यान किया।

- **अदु पोरिसिं तिरियभित्तिं, चक्खु मासज्ज अंतसो झाई।**

भगवान् ने प्रहर-प्रहर तक तिरछी भित्ति पर आंख टिकाकर ध्यान किया।

- **सीसीभावं पहाय से झाई।**

भगवान् जन-संकुल स्थानों को छोड़कर एकांत में ध्यान करते थे।

- **अविझाति से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।**
  उड्ढमहेतिरियं च, लोए झायइ समाहिरमपडिन्ने॥

भगवान् विविध आसनों में स्थिर होकर ध्यान करते थे। वे ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक को ध्येय बनाकर ध्यान करते थे।

मौन

- **पुट्ठो वि णाभिभासिंसु।**

भगवान् पूछने पर भी प्रायः नहीं बोलते थे।

● **रीयइ माहणे अबहुवाई।**

भगवान् बहुत नहीं बोलते थे। अनिवार्यता होने पर कुछेक शब्द बोलते थे।

● **अयमंतरंसि को एत्थ ? अहमंसित्ति भिक्खू आहट्टु।**

'यहां भीतर कौन है ?' ऐसा पूछने पर भगवान् उत्तर देते—'मैं भिक्षु हूं।'

निद्रा

● **णिद्दंपि णो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए।**
जग्गावती य अप्पाणं, ईसिं साई यासी अपडिन्ने॥

भगवान् विशेष नींद नहीं लेते थे। वे बहुत बार खड़े-खड़े ध्यान करते तब भी अपने आपको जागृत रखते थे। वे समूचे साधना-काल में बहुत थोड़े सोए। साढ़े बारह वर्षों में मुहूर्त्त भर भी नहीं सोए।

● **णिक्खम्म एगया राओ, बहिं चंकमिया मुहुत्तागं।**

कभी-कभी नींद सताने लगती तब भगवान् चंक्रमण कर उस पर विजय पा लेते। वे निरंतर जागरूक रहने का प्रयत्न करते।

आहार

● **मायण्णे असणपाणस्स।**

भगवान् भोजन और पानी की मात्रा को जानते थे और उनका मात्रा के अनुरूप ही प्रयोग करते थे।

● **ओमोयरियं चाएति, अपुट्ठेवि भगवं रोगेहिं।**

भगवान् स्वस्थ होने पर भी कम खाते थे। रोग से स्पृष्ट मनुष्य अधिक नहीं खा सकते। भगवान् रुग्ण नहीं थे, फिर भी अधिक नहीं खाते थे।

● **नाणुगिद्धे रसेसु अपडिन्ने।**

भगवान् सरस भोजन में आसक्त नहीं थे।

● **अदु जावइत्थ लूहेणं, ओयण-मंथु-कुम्मासेणं।**

भगवान् भोजन के विविध प्रयोग करते थे। एक बार उन्होंने रूक्ष भोजन का

प्रयोग किया। वे कोरे ओदन, मंथु और कुल्माष खाते रहे।

- **एयाणि तिन्नि पडिसेवे, अट्ठ मासे य जावए भगवं।**

भगवान् ने आठ मास तक उक्त तीन वस्तुओं के आधार पर जीवन चलाया।

- **अपिइत्थ एगया भगवं, अद्धमासं अदुवा मासं पि ?**

- **अवि साहिए दुवे मासे, छप्पि मासे अदुवा अपिबित्ता।**

भगवान् उपवास में पानी भी नहीं पीते थे। एक बार उन्होंने एक पक्ष तक पानी नहीं पिया। एक मास, दो मास और छह मास तक भी पानी पिए बिना रहे।

सामान्य धारणा है कि खान-पान के बिना जीवन नहीं चलता। खाए बिना मनुष्य कुछ दिन रह सकता है पर पानी पिए बिना लम्बे समय तक नहीं रहा जा सकता। पर भगवान् महावीर ने छह मास तक भोजन-जल न लेकर यह प्रमाणित कर दिया कि मनुष्य संकल्प और प्राणशक्ति के आधार पर भोजन और जल के बिना लम्बे समय तक जीवित रह सकता है।

आचारांग में प्रेक्षा-ध्यान के तत्त्व

१. सत्य की खोज

• **पासह एगेवसीयमाणे अणत्तपण्णे।** (६।५)

तुम देखो, जो आत्मप्रज्ञा से शून्य हैं वे अवसाद को प्राप्त हो रहे है।

• **संति पाणा अंधा तमंसि वियाहिया।** (६।६)

अंधकार मे होने वाले प्राणी अंध कहलाते है। अंधकार दो प्रकार का होता

१ द्रव्य अंधकार—प्रकाश का अभाव।
२. भाव अंधकार—मिथ्यात्व और अज्ञान।

अंध दो प्रकार के होते है—

१. द्रव्य अंध—चक्षु-विहीन।
२ भाव अंध—विवेक रहित।

मिथ्यात्व और अज्ञान मे रहने वाले मनुष्य विवेक-शून्य होते है। वे कर्म के उपादान और परिपाक को नहीं देख पाते।

• **सुपडिलेहिय सव्वतो सव्वयाए सम्ममेव समभिजाणिया।** (५।११६)

सब प्रकार से, सम्पूर्णरूप से निरीक्षण कर सत्य का ही अनुशीलन करना चाहिए।

● इहारामं परिण्णाय, अल्लीणगुत्तो परिव्वए।
णिट्ठियट्ठी वीरे, आगमेण सदा परिक्कमेज्जासि ॥ (५।११७)

इस सत्य के अनुशीलन में आत्म-रमण की परिज्ञा कर, आत्मलीन और जितेन्द्रिय होकर परिव्रजन करे। कृतार्थ और वीर पुरुष सदा आगम-निर्दिष्ट अर्थ के अनुसार पराक्रम करे।

● पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि। (३।६५)

पुरुष ! तू सत्य का ही अनुशीलन कर।

● सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरति। (३।६६)

जो सत्य की आज्ञा मे उपस्थित है वह मेधावी मृत्यु को तर जाता है।

● सहिए धम्ममादाय सेयं समणुपस्सति। (३।६७)

सत्य का साधक धर्म को स्वीकार कर श्रेय का साक्षात् कर लेता है।

२. मूढ़ता

● भोगामेव अणुसोयंति। (२।७६)

मूढ़ व्यक्ति भोग के विषय में ही सोचते रहते है।

● सततं मूढे धम्मं णाभिजाणइ। (२।६३)

सतत मूढ मनुष्य धर्म को नहीं जान पाता।

● अणोहंतरा एते, नो य ओहं तरित्तए।
अतीरंगमा एते, नो य तीरं गमित्तए।
अपारंगमा एते, नो य पारं गमित्तए। (२।७१)

मूढ मनुष्य—

अनोघंतर है—संसार-प्रवाह को तैरने मे समर्थ नही है।
अतीरंगम है—तीर तक पहुचने मे समर्थ नहीं है।
अपारंगम है—पार तक पहुंचने में समर्थ नहीं है।

३. अंतर्दृष्टि

● से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स णत्थि ममाइयं। (२।१५७)

वह ज्ञानी है, पथ को देखने वाला है, जिसने ममत्व की ग्रन्थि को छिन्न कर डाला है।

● **अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे।** (३।३४)

हे धीर! तू दुःख के अग्र और मूल का विवेक कर।

● **अभिभूय अदक्खू, अणभिभूते पभू निरालंबणयाए।** (५।११)

सत्य का साक्षात्कार उसी ने किया है जिसने साधना के विघ्नों को अभिभूत किया है। जो बाधाओं से अभिभूत नहीं होता, वही निरालंबी होने में समर्थ होता है।

स्वावलंबी व्यक्ति दूसरों पर निर्भर नहीं होता। वह अपने आप मे और अपनी उपलब्धियो मे ही सन्तुष्ट रहता है।

४. समत्व

● **खणंसि मुक्के।** (२।२८)

वह क्षणभर मे मुक्त हो जाता है।

● **तम्हा पंडिए णो हरिसे, णो कुज्झे।** (२।५१)

पंडित पुरुष न हर्षित हो और न कुपित हो।

● **उवेहमाणो अणुवेहमाणं बूया—उवेहाहि समियाए।** (५।६७)

मध्यस्थभाव रखने वाला व्यक्ति मध्यस्थभाव न रखने वाले से कहे—'तुम सत्य के लिए मध्यस्थभाव का अवलंबन लो।'

● **विस्सेणिं कट्टु, परिण्णाए।** (६।६८)

समत्व की प्रज्ञा से राग-द्वेष की श्रेणी को छिन्न कर डालो।

● **समयं तत्थुवेहाए, अप्पाणं विप्पसायए।** (३।५५)

व्यक्ति अपने जीवन में समता का आचरण कर आत्मा को प्रसन्न करे।

दूसरों के प्रत्यक्ष मे पाप-कर्म न करना, वैसे ही परोक्ष मे न करना समता है। जो साधक प्रत्यक्ष और परोक्ष में समान आचरण करता है उसी का चित्त प्रसन्न (निर्मल) रह सकता है। छिप-छिप कर पाप करने वाले का चित्त निर्मल नहीं रह सकता। वह मलिन हो जाता है।

५. अप्रमाद

● **अंतरं च खलु इमं संपेहाए—धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए।** (२।११)

इस प्राप्त अवसर की समीक्षा कर धीर पुरुष मुहूर्तभर भी प्रमाद न करे।

स्वप्न और जागरण सापेक्ष हैं। मनुष्य बाहर में जागता है, तब भीतर में सोता है। वह भीतर मे जागता है, तब बाहर में सोता है। बाहर में जागने वाला चैतन्य को विस्मृत कर देता है, इसलिए वह प्रमत्त हो जाता है। प्रमाद का अर्थ है—विस्मृति। भीतर मे जागने वाले को चैतन्य की स्मृति रहती है, इसलिए वह अप्रमत्त रहता है। अप्रमाद का अर्थ है—स्मृति। स्मृति जागरूकता है और विस्मृति स्वप्न है।

● **जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वा णं एगया णियगा तं पुव्विं पोसेंति, सो वा ते णियगे पच्छा पोसेज्जा।** (२।१६)

पुरुष जिनके साथ रहता है, वे आत्मीय जन कभी उसके पोषण की पहल करते हैं। बाद मे वह भी उनका पोषण करता है।

● **संतिं मरणं संपेहाए, भेउरधम्मं संपेहाए।** (२।५६)

अप्रमाद शांति है और प्रमाद मृत्यु—यह देखने वाला प्रमाद कैसे कर सकता है ?

● **जागरवेरोवरए वीरे।** (३।८)

जागृत और वैर से उपरत व्यक्ति वीर होता है।

● **उट्ठिए णो पमायए।** (५।२३)

पुरुष अप्रमाद की साधना में उत्थित होकर प्रमाद न करे।

● **जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं।** (५।२४)

सुख और दुःख व्यक्ति का अपना-अपना होता है—यह जानकर व्यक्ति प्रमाद न करे।

● **अणण्णपरमं नाणी, णो पमाए कयाइ वि।**
आयगुत्ते सया वीरे, जायामायाए जावए॥ (३।५६)

ज्ञानी पुरुष परम सत्य के प्रति क्षणभर भी प्रमाद न करे। वह सदा

इन्द्रियजयी और पराक्रमशील रहे, परिमित भोजन से जीवन-यात्रा चलाए।

६ कायोत्सर्ग

● **नरा मुयच्चा धम्मविदु ति अंजू।** (४।२८)

देह के प्रति अनासक्त मनुष्य ही धर्म को जान पाते हैं और धर्म को जानने वाले ही ऋजु होते हैं।

७. अनित्य अनुप्रेक्षा

● **से पुव्वं पेयं पच्छा पेयं भेउर-धम्मं, विद्धंसण-धम्मं, अधुवं, अणितियं, असासयं, चयावचइयं, विपरिणाम-धम्मं, पासह एयं रूवं।** (५।२९)

तुम इस शरीर को देखो। यह पहले या पीछे एक दिन अवश्य ही छूट जायेगा। विनाश और विध्वंस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाएं होती है।

● **णत्थि कालस्य णागमो।** (२।६२)

मृत्यु के लिए कोई भी क्षण अनवसर नहीं है। वह किसी भी क्षण आ सकती है।

८. अशरण अनुप्रेक्षा

● **नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा।**
तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा॥ (२।२८)

हे पुरुष ! वे स्वजन तुम्हे त्राण या शरण देने मे समर्थ नही है। तुम भी उन्हे त्राण या शरण देने मे समर्थ नही हो।

९. एकत्व अनुप्रेक्षा

● **अइअच्च सव्वतो संगं ण-महं अत्थि इति एगोहमंसि।** (६। ३८)

पुरुष सब प्रकार के संग का त्याग कर यह भावना करे—मेरा कोई नही है, इसलिए मैं अकेला हू।

१०. संसार अनुप्रेक्षा

● **मोहेण गब्भं मरणाति एति।** (५।७)

प्राणी मोह के कारण जन्म-मरण को प्राप्त होता है।

- **एत्थ मोहे पुणो पुणो।** (५।८)

इस जन्म-मरण की शृंखला में बार-बार मोह उत्पन्न होता है।

- **संसयं परिजाणतो, संसारे परिण्णाते भवति।**
  संसयं अपरिजाणतो, संसारे अपरिण्णाते भवति॥ (५।९)

जो संशय को जानता है, वह संसार को जान लेता है—ज्ञेय का ज्ञान और हेय का परित्याग कर देता है।

जो संशय को नहीं जानता, वह संसार को नहीं जान पाता।

संशय दर्शन का मूल है। जिसके मन में संशय नहीं होता—जिज्ञासा नहीं होती, वह सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम के मन मे जब-जब संशय होता, तब वे भगवान् के पास जाकर उसका समाधान लेते।

'संशयात्मा विनश्यति'—संशयालु नष्ट होता है। इस पद मे संशय का अर्थ संदेह है।

'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति'—संशय का सहारा लिए बिना मनुष्य कल्याण को नहीं देखता। इस पद में संशय का अर्थ जिज्ञासा है।

संसार का अर्थ है—जन्म-मरण की परंपरा। जब तक उसके प्रति मन मे संशय नही होता, वह सुखद है या दुःखद, ऐसा विकल्प उत्पन्न नही होता, तब तक वह चलता रहेगा। उसके प्रति संशय उत्पन्न होना ही उसकी जड़ मे प्रहार करना है।

११. अशौच अनुप्रेक्षा

- **जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो।** (२।१२९)

यह शरीर जैसा भीतर है वैसा बाहर है, जैसा बाहर है वैसा भीतर है।

- **अंतो अंतो देहंतराणि पासति पुढोवि सवंताइं।** (२।१३०)

पुरुष इस अशुचि शरीर के भीतर से भीतर देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों को भी देखता है।

कुछ दार्शनिक अन्तस् की शुद्धि पर बल देते हैं और कुछ बाहर की शुद्धि पर। भगवान् महावीर एकांगी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने दोनों को एक साथ देखा और कहा—केवल अन्तस् की शुद्धि पर्याप्त नही है। बाहरी

व्यवहार भी शुद्ध होना चाहिए। वह अन्तस् का प्रतिफलन है। केवल बाहरी व्यवहार का शुद्ध होना भी पर्याप्त नहीं है। अन्तस् की शुद्धि के बिना वह कोरा दमन बन जाता है। इसलिए अन्तस् भी शुद्ध होना चाहिए। अन्तस् और बाहर— दोनों की शुद्धि ही धार्मिक जीवन की पूर्णता है।

चित्त को कामना से मुक्त करने का चौथा आलंबन है—शरीर की अशुचिता का दर्शन।

एक मिट्टी का घड़ा अशुचि से भरा है। वह अशुचि झर कर बाहर आ रही है। वह भीतर से अपवित्र है और बाहर से भी अपवित्र हो रहा है।

यह शरीर-घट भीतर मे अशुचि है। इसके निरंतर झरते हुए स्रोतों से बाहरी भाग भी अशुचि हो जाता है।

यहां रुधिर है, यहां मांस है, यहां मेद है, यहां अस्थि है, यहां मज्जा है, यहां शुक्र है। साधक गहराई में पैठकर इन्हें देखता है।

देहान्तर—अन्तर का अर्थ है—विवर। साधक अन्तरों को देखता है। वह पेट के अन्तर (नाभि), कान के अन्तर (छेद), दाएं हाथ और पार्श्व के अन्तर तथा बाएं हाथ और पार्श्व के अन्तर, रोम-कूपों तथा अन्य अन्तरों को देखता है। इस अन्तर-दर्शन से उसे शरीर का वास्तविक रूप ज्ञात हो जाता है। उसकी कामना शांत हो जाती है।

१२. भावना

- **तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तन्निवेसणे।** (५।११०)

साधक ध्येय के प्रति दृष्टि नियोजित करे, तन्मय बने, ध्येय को प्रमुख बनाये, उसकी स्मृति मे उपस्थित रहे, उसमे दत्तचित्त रहे।

१३ प्रेक्षा

- **इह आणाकंखी पंडिए अणिहे एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं।** (४।३२)

ज्ञानी पुरुष आत्मा की ही संप्रेक्षा करता हुआ अनासक्त हो जाये। वह कर्म-शरीर को प्रकंपित करे और कषाय-आत्मा को कृश करे, जीर्ण करे।

'एगमप्पाणं संपेहाए' यह पद एकत्व और अन्यत्व भावना का प्रतीक है। आत्मा अकेला कर्म करता है, अकेला ही उसका फल भोगता है; अकेला उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्मान्तर मे जाता है—

एकः प्रकुरुते कर्म, भुङ्क्ते एकश्च तत्फलम्।
जायत्येको म्रियत्येकः, एको याति भवान्तरम्॥

'शरीर भिन्न और आत्मा भिन्न है'—यह अन्यत्व भावना है। 'मैं सदा अकेला हूं, मैं किसी दूसरे का नहीं हूं। मैं अपने आप को जिसका बता सकूं, उसे नहीं देखता और जिसे मैं अपना कह सकूं, उसे भी नहीं देखता—

सर्वकोऽहं न मे कश्चित्, नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं, नासौ भावीति यो मम ॥

इस संसार मे अनर्थ ही सार वस्तु है। कौन, किसका, कहां अपना है और कौन, किसका, कहां पराया है ? ये स्वजन और परजन सारे भ्रमण कर रहे है। ये किसी समय स्वजन और परजन हो जाते हैं। एक समय ऐसा आता है, जब न कोई स्वजन रहता है और न कोई परजन—

संसार एवायमनर्थसारः कः कस्य कोऽत्र स्वजनः परो वा ।
सर्वे भ्रमन्तः स्वजनाः परे च, भवन्ति भूत्वा न भवन्ति भूयः ॥

आप यह चिंतन करें—मैं अकेला हूं, पहले भी मेरा कोई नहीं है और पीछे भी मेरा कोई नही है। अपने कर्मों के द्वारा मुझे दूसरों को अपना मानने की भ्रांति हो रही है। सचाई यह है कि पहले भी मै अकेला हूं और पीछे भी मैं अकेला ही हूं—

विचिन्त्यमेतद् भवताऽहमेको, न मेऽस्ति कश्चित् पुरतो न पश्चात् ।
स्वकर्मभिर्भ्रान्तिरियं ममैव, अहं पुरस्तादहमेव पश्चात् ॥

- **जहा जुण्णाइं कट्ठाइं, हव्ववाहो पमत्थति, एवं अत्तसमाहिए अणिहे ।**
  (४।३३)

जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला देती है वैसे ही समाहित आत्मा वाला तथा अनासक्त पुरुष कर्म-शरीर को प्रकंपित, कृश और जीर्ण कर देता है।

इस पद मे कर्म-शरीर को प्रकंपित करने के दो साधन निर्दिष्ट है—समाधि (आत्मा मे एकाग्रता) और अनासक्ति। इन साधनों के निर्देश से भी यह स्पष्ट होता है कि इस प्रकरण मे शरीर से तात्पर्य 'कर्म-शरीर' है।

इस औदारिक (स्थूल) शरीर की कृशता यहां विवक्षित नहीं है। एक साधु ने उपवास के द्वारा शरीर को कृश कर लिया। उसका अहं कृश नही हुआ था। वह स्थान-स्थान पर अपनी तपस्या का प्रदर्शन करता और प्रशंसा चाहता था। एक अनुभवी साधु ने उसकी भावना को समझते हुए कहा—'हे साधु ! तुम इन्द्रियों, कषायों और गौरव (अहंभाव) को कृश करो। इस शरीर को कृश कर लिया, तो क्या हुआ ? हम तुम्हारे इस कृश शरीर की प्रशंसा नहीं करेंगे'—

इंदियाणि कसाए य, गारवे य किसे कुरु।
णो वयं ते पसंसामो, किसं साहु सरीरगं॥

भगवान् महावीर ने कर्म-शरीर को कृश करने की बात कही है। स्थूल शरीर कृश हो या न हो, यह गौण बात है।

- **जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्ति मन्नेसी।** (५।२१)

'इस स्थूल शरीर का यह वर्तमान क्षण है'—इस प्रकार जो वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह सदा अप्रमत्त होता है।

महावीर की साधना का मौलिक स्वरूप अप्रमाद है। अप्रमत्त रहने के लिए जो उपाय बतलाए गए है, उनमे शरीर की क्रिया और संवेदना—ये दो मुख्य उपाय है। जो साधक वर्तमान क्षण मे शरीर मे घटित होने वाली सुख-दुःख की वेदना को देखता है, वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह अप्रमत्त हो जाता है।

यह शरीर-दर्शन की प्रक्रिया अन्तर्मुख होने की प्रक्रिया है। सामान्यतः बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अन्तर् की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन स्थूल शरीर है। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर है। उनके भीतर आत्मा है। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनो को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमशः तैजस् और कर्म-शरीर को देखने लग जाता है। शरीर-दर्शन का दृढ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढता है, वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढता जाता है।

- **जे अणण्णदंसी, से अणण्णारामे,**
  जे अणण्णारामे, से अणण्णदंसी। (२।१७३)

जो अनन्य को देखता है, वह अनन्य में रमण करता है। जो अनन्य मे रमण करता है, वह अनन्य को देखता है।

भगवान् महावीर की साधना का मौलिक आधार है अप्रमाद—निरंतर जागरूक रहना। अप्रमाद का पहला सूत्र है—आत्म-दर्शन। भगवान् ने कहा—आत्मा से आत्मा को देखो—'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।'

अनन्य-दर्शन का अर्थ आत्म-दर्शन है। जो आत्मा को देखता है, वह आत्मा में रमण करता है और जो आत्मा में रमण करता है, वह आत्मा को देखता है। दर्शन के बाद रमण और रमण के बाद फिर स्पष्ट दर्शन—यह क्रम चलता रहता है। वासना और कषाय (क्रोध, अभिमान, माया, लोभ) ये आत्मा से अन्य हैं।

आत्मा को देखने वाला अन्य में रमण नहीं करता।

आत्मा को जानना ही सम्यग्ज्ञान है। आत्मा को देखना ही सम्यग्दर्शन है। आत्मा मे रमण करना ही सम्यग्चारित्र है। यही मुक्ति का मार्ग है।

अप्रमाद का दूसरा सूत्र है वर्तमान में जीना—क्रियमाण क्रिया से अभिन्न होकर जीना। वर्तमान क्रिया में तन्मय होने वाला अन्य क्रिया को नहीं देखता। जो अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना में खोया रहता है, वह वर्तमान में नहीं रह सकता।

जो व्यक्ति एक क्रिया करता है और उसका मन दूसरी क्रिया मे दौड़ता है, तब वह वर्तमान के प्रति जागरूक नहीं रह पाता। जागरूक भाव और तादात्म्य मे ही आत्मदर्शन घटित होता है।

- **आयतचक्खू लोग-विपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ।** (२।१२५)

दीर्घदर्शी पुरुष लोकदर्शी होता है। वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्वभाग को जानता है और तिरछे भाग को जानता है।

चित्त को काम-वासना से मुक्त करने का पहला आलंबन है—लोक-दर्शन।

१. लोक का अर्थ है—भोग्य वस्तु या विषय। शरीर भोग्य वस्तु है। उसके तीन भाग हैं—

    १. अधोभाग—नाभि से नीचे,
    २. ऊर्ध्वभाग—नाभि से ऊपर,
    ३. तिर्यग् भाग—नाभि-स्थान।

प्रकारान्तर से उसके तीन भाग ये हैं—

    १. अधो भाग—आंख का गड्ढा, गले का गड्ढा, मुख के बीच का भाग।
    २. ऊर्ध्व भाग—घुटना, छाती, ललाट, उभरे हुए भाग।
    ३. तिर्यग् भाग—समतल भाग।

साधक देखे—शरीर के अधो भाग में स्रोत है, ऊर्ध्व भाग में स्रोत है और मध्य भाग मे स्रोत—नाभि है।

शरीर को समग्रदृष्टि से देखने की साधना-पद्धति बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत सूत्र मे उसी शरीर-विपश्यना का निर्देश है।

. प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या का दूसरा नय है—

दीर्घदर्शी साधक देखता है—लोक का अधो भाग विषय-वासना में आसक्त होकर शोक आदि से पीड़ित है।

लोक का उर्ध्व भाग भी विषय-वासना में आसक्त होकर शोक से पीड़ित है।

लोक का मध्य भाग भी विषय-वासना में आसक्त होकर शोक आदि से पीड़ित है।

३. प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या का तीसरा नय यह है—

दीर्घदर्शी साधक मनुष्य के उन भावों को जानता है, जो अधो गति के हेतु बनते है; उन भावों को जानता है, जो ऊर्ध्व गति के हेतु बनते हैं; उन भावों को जानता है, जो तिर्यग् (मध्य) गति के हेतु बनते है।

४. इसकी त्राटक-परक व्याख्या भी की जा सकती है—

आंखों को विस्फारित और अनिमेष कर उन्हें किसी एक बिंदु पर स्थिर करना त्राटक है। इसकी साधना सिद्ध होने पर ऊर्ध्व, मध्य और अधः—ये तीनों लोक जाने जा सकते हैं। इन तीनों लोकों को जानने के लिए इन तीनों पर ही त्राटक किया जा सकता है।

भगवान् महावीर ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक में ध्यान लगाकर समाधिस्थ हो जाते थे।

इससे ध्यान की तीन पद्धतिया फलित होती है—

१. आकाश-दर्शन,
२. तिर्यग् भित्ति-दर्शन,
३. भूगर्भ-दर्शन।

आकाश-दर्शन के समय भगवान् ऊर्ध्व लोक में विद्यमान तत्त्वों का ध्यान करते थे। तिर्यग् भित्ति-दर्शन के समय वे मध्य-लोक मे विद्यमान तत्त्वों का ध्यान करते थे। भूगर्भ-दर्शन के समय वे अधोलोक मे विद्यमान तत्त्वों का ध्यान करते थे। ध्यान-विचार में लोक-चिंतन को आलंबन बताया गया है। ऊर्ध्व लोकवर्ती वस्तुओं का चिंतन उत्साह का आलंबन है। अधो लोकवर्ती वस्तुओं का चिंतन पराक्रम का आलंबन है। तिर्यक् लोकवर्ती वस्तुओं का चिंतन चेष्टा का आलंबन है। लोक-भावना में भी तीनों लोकों का चिंतन किया जाता है।

● **संधि विदित्ता इह मच्चिएहिं।** (२।१२७)

पुरुष मरणधर्मा मनुष्य के शरीर की संधि को जानकर कामासक्ति से मुक्त हो।

चित्त को काम-वासना से मुक्त करने का तीसरा आलंबन है—संधि-दर्शन—शरीर की संधियों (जोड़ों) का स्वरूप-दर्शन कर उसके यथार्थ रूप को समझना; शरीर अस्थियों का ढांचा-मात्र है; उसे देखकर उससे विरक्त होना। शरीर में एक सौ अस्सी संधियां मानी जाती हैं। चौदह महासंधियां हैं—तीन दाएं हाथ की संधियां—कंधा, कुहनी, पहुंचा। तीन बाएं हाथ की संधियां। तीन दाएं पैर की संधियां—कमर, घुटना, गुल्फ। तीन बाएं पैर की संधियां। एक गर्दन की संधि। एक कमर की संधि।

- **लोयं च पास विप्फंदमाणं।** (४।३७)

तू देख। यह लोक (शरीर) चारों ओर प्रकंपित हो रहा है।

- **जाति च वुड्ढि च इहज्ज! पासे।** (३।२६)

हे आर्य! तू जन्म और वृद्धि को देख।

जन्म को देखना जन्म की शृंखला को देखता है। जो मन की गहराइयों में उतर कर जन्म को देखता है, वह देखते-देखते जाति-स्मृति को प्राप्त हो जाता है, अतीत के अनेक जन्मों को देख लेता है। जैसे दस-बीस वर्ष पूर्व की घटना हमारी स्मृति में उतर आती है, वैसे ही पूर्व-जन्म भी हमारी स्मृति में होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। उसका कारण संमूढता है। जन्म और मरण के समय होने वाले दुःख से संमूढ़ बने हुए व्यक्ति को पूर्व-जन्म की स्मृति नहीं हो सकती—

जातमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स जंतुणो।
तेण दुक्खेण संमूढो, जातिं ण सरति अप्पणो॥

जन्म को देखने से, उस पर ध्यान केन्द्रित करने से संमूढता दूर हो जाती है और पूर्व-जन्म की स्मृति हो आती है।

- **णातीतमट्ठं ण य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छंति तहागया उ।**
  विधूतकप्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवगे महेसी॥ (३।६०)

तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते। धुताचार वाला महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी हो, कर्म-शरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।

कुछ साधक अतीत के भोगों की स्मृति और भविष्य के भोगों की अभिलाषा नहीं करते। कुछ साधक कहते हैं—अतीत भोग में तृप्त नहीं हुआ; इससे अनुमान किया जाता है कि भविष्य भी भोग से तृप्त नहीं होगा।

अतीत के भोगों की स्मृति और भविष्य के भोगों की अभिलाषा से राग, द्वेष

और मोह उत्पन्न होते हैं। इसलिए तथागत (वीतरागता की साधना करने वाले) अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते—राग-द्वेषात्मक चित्त-पर्याय का निर्माण नहीं करते।

जिसका आचार राग, द्वेष और मोह को शांत या क्षीण करने वाला होता है वह विधूत-कल्प कहलाता है। वह तथागत विधूत-कल्प 'एयाणुपस्सी' होता है। इसके तीन अर्थ हैं—

१. एतदनुपश्यी—वर्तमान मे घटित होने वाले यथार्थ को देखने वाला।
२. एकानुपश्यी—अपनी आत्मा को अकेला देखने वाला।
३. एजानुपश्यी—धुताचार के द्वारा होने वाले प्रकंपनों या परिवर्तनों को देखने वाला।

वह राग और द्वेष से मुक्त रहकर कर्म-शरीर को क्षीण करता है।

● **पलिच्छिंदिया णं णिक्कम्मदंसी।** (३।३५)

संयम और तप के द्वारा राग-द्वेष को छिन्न कर पुरुष आत्मदर्शी हो जाता है।

आत्मा है, फिर भी वह दृष्ट नही है। उसके दर्शन मे बाधक तत्व दो हैं—राग और द्वेष। ये आत्मा पर कर्म का सघन आवरण डालते रहते हैं; इसलिए उसका दर्शन नहीं होता। राग-द्वेष के छिन्न हो जाने पर आत्मा निष्कर्म हो जाता है। निष्कर्म होते ही वह दृष्ट हो जाता है। निष्कर्मदर्शी के चार अर्थ किये जा सकते हैं—१.आत्मदर्शी २. मोक्षदर्शी ३. सर्वदर्शी ४. अक्रियादर्शी।

महावीर की साधना का मूल आधार है—अक्रिया। सत् वही होता है, जिसमे क्रिया होती है। आत्मा की स्वाभाविक क्रिया है—चैतन्य का व्यापार। उससे भिन्न क्रिया होती है, वह स्वाभाविक नही होती। अस्वाभाविक क्रिया का निरोध ही आत्मा की स्वाभाविक क्रिया के परिवर्तन का रहस्य है। स्वाभाविक क्रिया के क्षण मे राग-द्वेष की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है।

● **एस मरणा पमुच्चइ।** (३।३६)

आत्मदर्शी मृत्यु से मुक्त हो जाता है।

● **से हु दिट्ठपहे मुणी।** (३।३७)

आत्मदर्शी ही पथद्रष्टा होता है।

● **लोयंसी परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते,**
समिते सहिते सया जए कालकंखी परिव्वए। (३।३८)

जो लोक में परम को देखता है वह विविक्त जीवन जीता है। वह उपशांत, सम्यक् प्रवृत्त, ज्ञान आदि से सहित और सदा अप्रमत्त होकर जीवन के अंतिम क्षण तक जागरूक रहता है।

- **अणोमदंसी णिसन्ने पावेहिं कम्मेहिं।** (३।४८)

परम को देखने वाला पुरुष पाप-कर्म का आदर नहीं करता।

- **उद्देसो पासगस्स णत्थि।** (२।७३)

द्रष्टा के लिए कोई उपदेश नही है।

- **संबाहा बहवो भुज्जो-भुज्जो दुरतिक्कमा अजाणतो अपासतो।** (५।६५)

अज्ञानी और अद्रष्टा मनुष्य बार-बार आने वाली अनेक बाधाओं का पार नही पा सकता।

बाधाओ को कैसे सहन करना चाहिए? उनके सहन करने या न करने से क्या लाभ-अलाभ होता है?—इन सारी स्थितियों को जानने वाला ही उनको समाहित कर सकता है।

१४. आज्ञा विचय

- **संधेमाणे समुट्ठिए।** (६।७१)

धर्म का संधान करने वाले तथा वीतरागता के अभिमुख व्यक्ति को अरति अभिभूत नहीं कर पाती।

साधक विषयो का त्याग कर संयम मे रमण करता है। साधना-काल में प्रमाद, कषाय आदि समय-समय पर उभरते है और उसे विषयाभिमुख बना देते है। किंतु जागरूक साधक धर्म की धारा को मूल स्रोत (आत्म-दर्शन) से जोड़कर आत्मानुभव करता रहता है।

१५. अपाय विचय

- **अट्टे लोए परिजुण्णे, दुस्संबोहे अविजाणए।** (१।१३)

- **अस्सिं लोए पव्वहिए।** (१।१४)

जो मनुष्य विषय-वासना से पीडित है वह ज्ञान और दर्शन से दरिद्र है। वह सत्य को सरलता से समझ नही पाता, अत: अज्ञानी बना रहता है।

वह इस लोक में व्यथा अनुभव करता है।

१६. विपाक विचय

- **अरइं आउट्टे से मेहावी।** (२।२७)

जो अरति (चैतसिक उद्वेग) का निवर्तन करता है, वह मेधावी होता है।

संयम में रति और असंयम मे अरति करने से चैतन्य और आनन्द का विकास होता है।

संयम में अरति और असंयम में रति करने से उसका ह्रास होता है; इसलिए साधक को यह निर्देश दिया है कि वह संयम में होने वाली अरति का निवर्तन करे।

- **भूएहिं जाण पडिलेह सातं।** (२।५२)

साधक! जीवों के कर्म-बंध और कर्म-विपाक को जान और उनके सुख-दु.ख को देख।

- **समिते एयाणुपस्सी।** (२।५३)

- **तं जहा—अंधत्तं बहिरत्तं मूयत्तं काणत्तं कुंटत्तं खुज्जत्तं वडभत्तं सामत्तं सबलत्तं।** (२।५४)

सम्यग्दर्शी पुरुष इष्ट-अनिष्ट कर्म-विपाक को देखता है। जसे—कोई अंधा है और कोई बहरा; कोई गूंगा है और कोई काना; कोई लूला है, कोई कुबड़ा है और कोई बौना; कोई कोढी है और कोई चितकबरा।

- **सहपमाएणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधाति, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ।** (२।५५)

पुरुष अपने ही प्रमाद से विभिन्न योनियों में जाता है और विविध प्रकार के आघातों का अनुभव करता है।

- **से अबुज्झमाणे हतोवहते जाइमरणं अणुपरियट्टमाणे।** (२।५६)

वह प्रमत्त पुरुष कर्म-विपाक को नहीं जानता हुआ व्याधि से हत और अपमान से उपहत होता है। वह बार-बार जन्म और मरण करता है।

१७. कर्म

- **इति कम्मं परिण्णाय, सव्वसो से ण हिंसति। संजमति णो पगब्भति।** (४।५१)

इस प्रकार कर्म को पूर्णरूप से जानकर वह किसी की हिंसा नहीं करता। वह इन्द्रियों का संयम करता है, उनका कभी उच्छृंखल व्यवहार नहीं करता।

१८. सुख-दुःख

- **सुहट्ठी लालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति।** (२।१५१)

सुख का अर्थी बार-बार सुख की कामना करता है। वह इस कामना की व्यथा से मूढ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है—दुःख पाता है।

१९. विराग

- **विरागं रूवेहिं गच्छेज्जा, महया खुड्डएहि वा।** (३।५७)

पुरुष क्षुद्र या महान् सभी प्रकार के रूपों (पदार्थों) के प्रति वैराग्य धारण करे।

- **जमिणं अण्णमण्णावितिगिच्छाए पडिलेहाए ण करेइ पावं कम्मं, किं तत्थ मुणी कारणं सिया?** (३।५४)

जो परस्पर एक-दूसरे की आशंका से या दूसरे के देखते हुए पाप-कर्म नही करता क्या उसका कारण ज्ञानी होना है?

पाप-कर्म नहीं करने की प्रेरणा अध्यात्मज्ञान है। अध्यात्मज्ञानी जैसे दूसरों के प्रत्यक्ष में पाप नहीं करता, वैसे ही परोक्ष मे भी पाप नहीं करता।

जो व्यावहारिक बुद्धि वाला होता है, वह दूसरों के प्रत्यक्ष मे पाप नही करता, किंतु परोक्ष में पाप करता है।

शिष्य ने पूछा—गुरुदेव! जो व्यक्ति दूसरो के भय, आशंका या लज्जा से प्रेरित हो पाप नही करता, क्या यह आध्यात्मिक त्याग है?

गुरु ने कहा—यह आध्यात्मिक त्याग नहीं है। जिसके अन्तःकरण मे पापकर्म छोड़ने की प्रेरणा नही है, वह निश्चय नय मे ज्ञानी नही है। जो दूसरों के भय से पाप-कर्म नहीं करता, वह व्यवहार नय मे ज्ञानी है।

२०. कषाय-परित्याग

- **से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च।** (३।७१)

साधक क्रोध, मान, माया और लोभ को छोड दे।

- **कसाए पयणुए किच्चा...।** (८।१०५)

साधक कषाय को कृश करे।

२१. वीतरागता

● **दुहओ छेत्ता नियाइ।** (८।४०)

साधक राग और द्वेष—दोनों बंधनों को छिन्न कर नियमित जीवन जीता है।

● **कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के।** (२।१८२)

कुशल न बद्ध होता है और न मुक्त होता है।

कुशल का अर्थ है ज्ञानी। धर्म-कथा में दक्ष, विभिन्न दर्शनों का पारगामी, अप्रतिबद्ध विहारी, कथनी और करनी में समान, निद्रा एवं इन्द्रियों पर विजय पाने वाला, साधना मे आने वाले कष्टों का पारगामी और देश-काल को समझने वाला मुनि 'कुशल' कहलाता है।

तीर्थंकर को भी कुशल कहा जाता है।

२२. प्रतिपक्ष भावना

● **लोभं अलोभेण दुगंछमाणे, लद्धे कामे नाभिगाहइ।** (२।३६)

जो पुरुष अलोभ से लोभ को पराजित कर देता है, वह प्राप्त कामों का सेवन नही करता।

● **विणइत्तु लोभं निक्खम्म, एस अकम्मे जाणति-पासति।** (२।३७)

जो लोभ को छोडकर प्रव्रजित होता है वह अकर्म होकर जानता-देखता है।

अलोभ को लोभ से जीतना—यह प्रतिपक्ष का सिद्धांत है। शांति से क्रोध, मृदुता से मान और ऋजुता से माया निरस्त हो जाती है, वैसे ही अलोभ से लोभ निरस्त हो जाता है। जैसे आहार-परित्याग ज्वर वाले के लिए औषधि है, वैसे ही लोभ का परित्याग असंतोष की औषधि है—

> **यथाहारपरित्यागः ज्वरतस्यौषधं तथा।**
> **लोभस्यैवं परित्यागः असंतोषस्य भेषजम्॥**

कुछ पुरुष लोभ-सहित दीक्षित होते है, किंतु यदि वे अलोभ से लोभ को जीतने का प्रयत्न करते हैं, तो वे वस्तुतः साधक ही होगे। जो पुरुष लोभ-रहित होकर दीक्षित होते है, वे ध्यान के द्वारा अथवा भरत चक्रवर्ती की भांति शीघ्र ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण से मुक्त होकर ज्ञाता और द्रष्टा बन जाते हैं।

२३. श्रद्धा

- **जाए सद्धाए णिक्खंतो, तमेव अणुपालिया। विजहित्तु विसोत्तियं।** (१।३६)

पुरुष जिस श्रद्धा से अभिनिष्क्रमण करे, उसी श्रद्धा को बनाए रखे, चित्त की चंचलता के स्रोत में न बहे।

लक्ष्य की पूर्ति के लिए अभिनिष्क्रमण करते समय भाव-धारा वर्धमान होती है। उसका हीयमान होना इष्ट नहीं है, फिर भी काल की लम्बी अवधि में वह अवस्थित नहीं रहती, कभी-कभी हीन हो जाती है। इसीलिए आचार्य ने साधक को यह निर्देश दिया—श्रद्धा को बढाओ। यदि बढा न सको, तो अभिनिष्क्रमण-काल मे जो श्रद्धा थी, उसे कम मत होने दो। यदि लाभ न कमा सको तो कम-से-कम मूल पूंजी को सुरक्षित रखो। श्रद्धा की हानि चित्त की चंचलता या लक्ष्य के प्रति शंका होने से होती है।

- **इणमेव णावकंखंति जे जणा धुवचारिणो।**
  जातीमरणं परिण्णाय चरे संकमणे दढे।। (२।६१)

जो पुरुष मोक्ष की ओर गतिशील है वे विपर्यासंपूर्ण जीवन जीने की इच्छा नही करते। वे जन्म-मरण को जानकर मोक्ष के सेतु पर दृढतापूर्वक चले।

२४. सहिष्णुता

- **जे असता पावेहिं कम्मेहिं, उदाहु ते आयंका फुसंति।**
  इति उदाहु वीरे ते फासे पुट्ठो हियासए।। (५।२८)

जो पाप-कर्म मे आसक्त नहीं है, उन्हे भी कभी-कभी शीघ्रघाती रोग पीड़ित कर देते है। भगवान् महावीर ने कहा—उन शीघ्रघाती रोगों के उत्पन्न होने पर पुरुष उन्हे सहन करे।

२५. संयम

- **पलिछिंदिय बाहिरगं च सोयं, णिक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं।** (४।५०)

इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को रोककर इस मरण-धर्मा जगत् में तुम अमृत को देखो।

जिसकी इन्द्रियों का प्रवाह नश्वर विषयों की ओर होता है, वह अमृत को प्राप्त नहीं हो सकता। उसकी प्राप्ति के लिए इन्द्रिय-प्रवाह को मोड़ना आवश्यक

होता है। जिसकी सारी इन्द्रियां अमृत के दर्शन में लग जाती हैं, वह स्वयं अमृत-मय बन जाता है। निष्कर्म के पांच अर्थ किये जा सकते हैं—शाश्वत, अमृत, मोक्ष, संवर और आत्मा। कर्म को देखने वाला कर्म को प्राप्त होता है और निष्कर्म को देखने वाला निष्कर्म को प्राप्त होता है। निष्कर्म-दर्शन योग-साधना का बहुत बड़ा सूत्र है।

निष्कर्म का दर्शन चित्त की सारी वृत्तियों को एकाग्र कर करना चाहिए। उस समय केवल आत्मा या आत्मोपलब्धि के साधन को ही देखना चाहिए। अन्य किसी वस्तु पर मन नहीं जाना चाहिए।

- **संजमति णो पगब्भति।** (५।५१)

पुरुष इन्द्रियों का संयम करे। उनका उच्छृंखल व्यवहार न करे।

- **जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति, से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं।** (३।४)

जो पुरुष शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श को भलीभांति जान लेता है—उनमे राग-द्वेष नही करता वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है।

शब्द, रूप, रस, गंध, और स्पर्श की आसक्ति आत्मा की उपलब्धि मे बाधक बनती है। इनमे आसक्त मनुष्य अनात्मवान् और अनासक्त मनुष्य आत्मवान् कहलाता है। जिसे आत्मा उपलब्ध होता है, उसे ज्ञान, शास्त्र, धर्म और आचार—सब कुछ उपलब्ध हो जाता है। जो आत्मा को जान लेता है, वह ज्ञान, शास्त्र, धर्म और आचार—सब कुछ जान लेता है।

- **आगतिं गतिं परिण्णाय, दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणे।**
  से ण छिज्जइ ण भिज्जइ ण डज्झइ ण हम्मइ कंचणं सव्वलोए॥ (३।५८)

आगति और गति (संसार-भ्रमण) को जानकर जो राग-द्वेष—इन दोनों अन्तों से दूर रहता है, वह लोक के किसी भी कोने में छेदा नही जाता, भेदा नही जाता, जलाया नही जाता और मारा नहीं जाता।

- **पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि।** (३।६४)

पुरुष! आत्मा का ही निग्रह कर। इस प्रकार तू दुःख से मुक्त हो जायेगा।

आत्मा शब्द का प्रयोग चैतन्य-पिण्ड, मन और शरीर के अर्थ में होता है। अभिनिग्रह का अर्थ है—समीप जाकर पकडना। जो व्यक्ति मन के समीप जाकर उसे पकड़ लेता है, उसे जान लेता है, वह सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

निकटता से जान लेना ही वास्तव में पकड़ना है। नियंत्रण करने से प्रतिक्रिया पैदा होती है। उससे निग्रह नहीं होता। धर्म के क्षेत्र में यथार्थ को जान लेना ही निग्रह है।

- **णारतिं सहते वीरे, वीरे णो सहते रतिं।**
  जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे ण रज्जति॥ (२।१६०)

साधक संयम-साधना मे उत्पन्न अरति को सहन नहीं करता—तत्काल ध्यान के द्वारा उसे मन से निकाल देता है। वह असंयम में उत्पन्न रति को सहन नहीं करता—तत्काल ध्यान के द्वारा उसका रेचन कर देता है, क्योंकि वह विमनस्क नही होता, मध्यस्थ रहता है, इसलिए वह आसक्त नही होता।

अरति को सहन न करना—यह संकल्प-शक्ति (Will-Power) के विकास का सूत्र है। जिसके प्रति मनुष्य का आकर्षण नही होता, उसके प्रति प्रयत्नपूर्वक ध्यान करने से—मानसिक धारा को प्रवाहित करने से संकल्प-शक्ति विकसित होती है। इन्द्रियों का आकर्षण विषयों के प्रति होता है। विषय-विरति के प्रति उनका आकर्षण नहीं होता। इसलिए कभी-कभी साधक के मन मे विषय-विरति के प्रति अरति उत्पन्न हो जाती है। उस अरति को सहने वाले साधक का संकल्प शिथिल हो जाता है। जो साधक अरति को सहन नही करता, विषय-विरति के प्रति अपने मन की धारा को प्रवाहित करता है, वह अपनी संकल्प-शक्ति का विकास कर संयम को सिद्ध कर लेता है।

भगवान् महावीर की साधना अप्रमाद (जागरूकता) और पराक्रम की साधना है। साधक को सतत अप्रमत्त और पराक्रमी रहना आवश्यक है। साधना-काल मे यदि किसी क्षण प्रमाद आ जाता है—अरति-रति का भाव उत्पन्न हो जाता है, तो साधक उसी क्षण ध्यान के द्वारा उसका विरेचन कर देता है। इससे वह संस्कार नही बनता, ग्रंथिपात नहीं होता।

अरति-रति का रेचन न किया जाए, तो उससे विषयानुबन्धी चित्त का निर्माण हो जाता है। फिर विषय की आसक्ति छूट नहीं सकती।

२६. अहिसा

- **वेरं वड्ढेति अप्पणो।** (२।१३५)

पुरुष माया और लोभ का आचरण कर वैर बढाता है।

- **जमिणं परिकहिज्जइ, इमस्स चेव पडिबूहणयाए।** (२।१३६)

यह जो मैं कहता हूं कि कामी पुरुष माया का आचरण कर वैर बढाता है,

वह शरीर की पुष्टि के लिए ही ऐसा करता है।

काम और भूख—ये दोनों मौलिक मनोवृत्तियां हैं। मनुष्य इनकी संतुष्टि के लिए दूसरों पर अधिकार करना चाहता है। भौतिकशास्त्र इनकी संतुष्टि का उपाय बतलाता है। अध्यात्मशास्त्र इन्हें सहने की शक्ति के विकास का उपाय बतलाता है। एक अध्यात्मशास्त्री की वाणी में उस उपाय का निर्देश इस प्रकार मिलता है—

शिश्नोदरकृते पार्थ ! पृथिवीं जेतुमिच्छसि।
जय शिश्नोदरं पार्थ ! ततस्ते पृथिवी जिता ॥

'राजन् ! काम और भूख की संतुष्टि के लिए तुम पृथ्वी को जीतना चाहते हो। तुम काम और भूख को ही जीत लो। पृथ्वी अपने-आप विजित हो जाएगी।'

भगवान् ने कहा—'काम और भूख की सतुष्टि के लिए दूसरों पर अधिकार करने वाला वैर की शृंखला को बढाता है। सबके साथ मैत्री चाहने वाला ऐसा नहीं करता।'

- **आवंती केआवंती लोयंसि अणारंभजीवी, एतेसु चेव मणारंभजीवी।** (५।१९)

इस जगत् मे जितने मनुष्य अहिंसाजीवी है, वे विषयों मे अनासक्त होने के कारण ही अहिंसाजीवी है।

- **पुढो छंदा इह माणवा, पुढो दुक्खं पवेदितं।** (५।२५)

इस जगत् मे मनुष्य नाना प्रकार की इच्छा वाले होते है। उनका दु:ख भी नाना प्रकार का होता है।

- **से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुट्ठो फासे विप्पणोल्लए।** (५।२६)

'सुख-दु:ख का अध्यवसाय स्वतंत्र होता है'—इसे जानकर पुरुष किसी की हिंसा न करे, जीवों के अस्तित्व को स्वीकार करे। जो कष्ट प्राप्त हों, उन्हें समभाव से सहन करे।

- **एस समिया-परियाए वियाहिते।** (५।२७)

अहिंसक और सहिष्णु साधक सत्य का पारगामी कहलाता है।

- **अरइं आउट्टे से मेहावी।** (२।२७)

- **खणंसि मुक्के।** (२।२८)

जो पुरुष अरति का निवर्तन करता है, वह मेधावी होता है। वह क्षणभर में कामनाओं से मुक्त हो जाता है।

- **समयं लोगस्स जाणित्ता, एत्थ सत्थोवरए।** (३।३)

'सब आत्माएं समान हैं'—यह जानकर पुरुष समूचे जीवलोक की हिंसा से उपरत हो जाये।

- **णिज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिणिव्वाणं।** (१।१२१)

तुम प्रत्येक प्राणी की शांति को जानो और देखो।

- **आयंकदंसी अहियं ति णच्चा।** (१।१४६)

जो पुरुष हिंसा में आतंक और अहित देखता है वही उससे निवृत्त होता है। अहिंसा के तीन आलम्बन हैं—

१. आतंक-दर्शन—हिंसा से होने वाले आतंक का दर्शन।
२. अहित-बोध—हिंसा से होने वाले अहित का बोध।
३. आत्म-तुला—सब जीवों के सुख-दुःख के अनुभव की समानता। जैसे अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। जैसे दूसरों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है।

२७. ब्रह्मचर्य

- **कामा दुरतिक्कमा।** (२।१२१)

काम दुर्लंघ्य है।

- **जीवियं दुप्पडिबूहणं।** (२।१२२)

जीवन को बढाया नहीं जा सकता।

- **कामकामी खलु अयं पुरिसे।** (२।१२३)

यह पुरुष काम-भोगों की कामना करने वाला है।

- **से सोयति जूरति तिप्पति पिड्डति परितप्पति।** (२।१२४)

कामी पुरुष शोक करता है, शरीर से सूख जाता है, आंसू बहाता है, पीड़ा

और परिताप का अनुभव करता है।

- **गढिए अणुपरियट्टमाणे।** (२।१२६)

काम-भोगों में आसक्त पुरुष उत्तरोत्तर कामों के पीछे चक्कर लगा रहा है।

चित्त को काम-वासना से मुक्त करने का दूसरा आलंबन है—अनुपरिवर्तन के सिद्धांत को समझना। काम के आसेवन से उसकी इच्छा शांत नहीं होती। कामी बार-बार उस काम के पीछे दौड़ता है। काम अकाम से शांत होता है। अनुपरिवर्तन के सिद्धांत को समझने वाले व्यक्ति में काम के प्रति परवशता की अनुभूति जागृत होती है और वह एक दिन उसके पाश से मुक्त हो जाता है।

- **पंडिए पडिलेहाए।** (२।१३१)

पंडित पुरुष काम के विपाक को देखें।

- **से मइमं परिण्णाय, मा य हु लालं पच्चासी।** (२।१३२)

वह मतिमान् मनुष्य काम के यथार्थ स्वरूप को जानकर और त्याग कर लार को न चाटे—वांत भोग का सेवन न करे।

- **मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावातए।** (२।१३३)

साधक अपने-आप को कामभोगों के मध्य मे न फंसाए।

- **कासंकसे खलु अयं पुरिसे, बहुमाई,**
  कडेण मूढो पुणो तं करेइ लोभं। (२।१३४)

कामासक्त पुरुष 'यह मैंने किया और यह मैं करूंगा'—इस उधेड़बुन में रहता है। वह बहुतों को ठगता है। वह अपने ही कृत कार्यों से मूढ होकर काम-सामग्री पाने को पुनः ललचाता है।

जो व्यक्ति किंकर्त्तव्यता (अब यह करना है, अब यह करना है, इस चिंता) से आकुल होता है, वह मूढ कहलाता है।

मूढ़ व्यक्ति सुख का अर्थी होने पर भी दुःख पाता है। वह आकुलतावश शयनकाल मे शयन, स्नान-काल में स्नान और भोजन-काल मे भोजन नहीं कर पाता—

> **सोउं सोवणकाले, मज्जणकाले य मज्जिउं ल्लोलो।**
> **जेमेउं च वराओ, जेमणकाले न चाएइ॥**

मूढ व्यक्ति स्वप्निल जीवन जीता है। वह काल्पनिक समस्याओं में इतना

उलझ जाता है कि वास्तविक समस्याओं की ओर ध्यान ही नहीं दे पाता। एक भिखारी था। उसने एक दिन भैंस की रखवाली की। भैंस के मालिक ने प्रसन्न हो उसे दूध दिया। उसने दूध को जमा दही बना लिया। दही के पात्र को सिर पर रखकर चला। वह चलते-चलते सोचने लगा—'इसे मथकर घी निकालूंगा। उसे बेचकर व्यापार करूंगा। व्यापार में पैसे कमाकर ब्याह करूंगा। फिर लड़का होगा। फिर मैं भैंस लाऊंगा। मेरी पत्नी बिलौनी करेगी। मैं उसे पानी लाने को कहूंगा। वह उठेगी नहीं, तब मैं क्रोध मे आकर एड़ी के प्रहार से बिलौने को फोड़ डालूंगा। दही ढुल जाएगा।' वह कल्पना में इतना तन्मय हो गया कि उसने ढुले हुए दही को साफ करने के लिए अपने सिर पर से कपड़ा खींचा। सिर पर रखा हुआ दही-पात्र गिर गया। उसके स्वप्नों की सृष्टि विलीन हो गयी।

- **संखाय पेसलं धम्मं, विट्ठिमं परिणिव्वुडे**। (६।१०७)

दृष्टिमान् मनुष्य उत्तम धर्म को जानकर विषय और कषाय को शांत करे।

- **तम्हा संगं ति पासह**। (६।१०८)

तुम आसक्ति को देखो।

'संग' शब्द के तीन अर्थ किए जा सकते हैं—आसक्ति, शब्द आदि इन्द्रिय-विषय और विघ्न।

आसक्ति को छोड़ने का उपाय है—आसक्ति को देखना। जो आसक्ति को नही देखता, वह उसे छोड़ नही पाता। भगवान् महावीर की साधना-पद्धति मे जानना और देखना अप्रमाद है, जागरूकता है; इसलिए वह परित्याग का महत्त्वपूर्ण उपाय है। जैसे-जैसे जानना और देखना पुष्ट होता है, वैसे-वैसे कर्म-संस्कार क्षीण होता है। उसके क्षीण होने पर आसक्ति अपने-आप क्षीण हो जाती है।

- **गंथेहिं गढिया णरा, विसण्णा कामविप्पिया**। (६।१०९)

परिग्रह मे आसक्त और विषयों में निमग्न मनुष्य काम से बाधित होते है।

२८. अपरिग्रह

- **अमरायइ महासड्ढी**। (२।१३७)

काम और उसके साधनभूत अर्थ मे जिसकी महान् श्रद्धा होती है, वह अमर की भांति आचरण करता है।

राजगृह में मगधसेना नाम की गणिका थी। वहां धन नाम का सार्थवाह

आया। वह बहुत बड़ा धनी था। उसके रूप, यौवन और धन से आकृष्ट होकर मगधसेना उसके पास गयी। वह आय और व्यय का लेखा करने में तन्मय हो रहा था। उसने मगधसेना को देखा तक नहीं। उसके अहं को चोट लगी। वह बहुत उदास हो गयी।

मगध-सम्राट् जरासंध ने पूछा—'तुम उदास क्यों हो ? किसके पास बैठने से तुम पर उदासी छा गयी ?'

गणिका ने कहा—'अमर के पास बैठने से।'

'अमर कौन ?' सम्राट् ने पूछा।

गणिका ने कहा—'धन सार्थवाह। जिसे धन की ही चिंता है। उसे मेरी उपस्थिति का भी बोध नहीं हुआ, तब मरने का बोध कैसे होता होगा ?'

यह सही है कि अर्थलोलुप व्यक्ति मृत्यु को नहीं देखता और जो मृत्यु को देखता है, वह अर्थलोलुप नहीं हो सकता।

- **अट्टमेतं पेहाए।** (२।१३८)

जो अर्थार्जन में अमर की भांति आचरण करता है वह पीड़ित होता है।

- **अपरिण्णाए कंदति।** (२।१३९)

अर्थ-संग्रह का त्याग नहीं करने वाला क्रन्दन करता है।

- **आरत्तं विरत्तं मणिकुंडलं सह हिरण्णेण, इत्थियाओ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता।** (२।५८)

मनुष्य रंग-बिरंगे मणि, कुंडल, हिरण्य और स्त्रियों का परिग्रह कर उनमें अनुरक्त हो जाते हैं।

- **ण एत्थ तवो वा, दमो वा, णियमो वा दिस्सति।** (२।५९)

परिग्रही पुरुष में न तप होता है, न शांति और न नियम।

२९. आस्रव

- **एत्थोवरए तं झोसमाणे अयं संधी ति अदक्खु।** (५।२०)

इस अर्हत् शासन में स्थित साधक शरीर को संयत कर यह कर्म-विवर (आस्रव) है, ऐसा देखकर आस्रव को क्षीण करता हुआ प्रमाद न करे।

- **आसं च छंदं च विगिंच धीरे।** (२।८६)

हे धीर ! तू आशा और स्वच्छंदता को छोड़।

• **तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु।** (२।८७)

उस आशा और स्वच्छंदता के शल्य का सृजन तूने ही किया है।

• **जेण सिया तेण णो सिया।** (२।८८)

जिससे सुख होता है, उससे नही भी होता।

• **इणमेव णावबुज्झंति, जे जणा मोहपाउडा।** (२।८९)

मोह से अतिशय आवृत मनुष्य पौद्गलिक सुख की अनेकांतिकता को भी नहीं समझ पाते।

• **उड्ढं सोता अहे सोता, तिरियं सोता वियाहिया।**
एते सोया वियक्खाया, जेहिं संगंति पासहा॥ (५।११८)

ऊपर स्रोत है, नीचे स्रोत है, मध्य मे स्रोत है। इनके द्वारा मनुष्य आसक्त होता है। इसे तुम देखो।

३०. संवर

• **आवट्टं तु उवेहाए, एत्थ विरमेज्ज वेयवी।** (५।११९)

राग और द्वेष के आवर्त्त का निरीक्षण कर ज्ञानी पुरुष उससे विरत हो जाए।

• **विणएत्तु सोयं णिक्खम्म, एस महं अकम्मा जाणति पासति।** (५।१२०)

इन्द्रिय-विषयों का परित्याग कर निष्क्रमण करने वाला महान् साधक अकर्म (ध्यानस्थ) होकर जानता-देखता है।

• **संधिं समुप्पेहमाणस्स एगायतणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे विरयस्स...।** (५।१३०)

जो कर्म-विवर (आस्रव) को देखता है, वीतरागता मे लीन है, शरीर आदि के ममत्व से मुक्त है, हिंसा से विरत है, उसके लिए कोई मार्ग नहीं है।

जन्म, जरा, रोग और मृत्यु—ये चार दुःख के मार्ग है। विरत के लिए ये मार्ग अवरुद्ध हो जाते है।

३१ समाधि-मृत्यु

• **कायस्स विओवाए, एस संगामसीसे वियाहिए।**
से हु पारंगमे मुणी, अवि हम्ममाणे फलगावयट्ठि,

कालोवणीते कंखेज्ज कालं, जाव सरीरभेउ। (६।११३)

मृत्यु के समय होने वाला शरीर-पात संग्रामशीर्ष [अग्रिम मोर्चा] कहलाता है। जो पुरुष उसमें पराजित नहीं होता वही पारगामी होता है।

वह परीषह से आहत होने पर जैसे खिन्न नहीं होता, वैसे बाह्य और आंतरिक तप के द्वारा फलक की भांति शरीर और कषाय—दोनों ओर से कृश बना हुआ खिन्न न बने। मृत्यु के निकट आने पर जब तक शरीर का वियोग न हो, तब तक काल की प्रतीक्षा करे, मृत्यु की आशंसा न करे।

मृत्यु सचमुच संग्राम है। संग्राम में पराजित होने वाला वैभव से विपन्न और विजयी होने वाला वैभव से संपन्न होता है। वैसे ही मृत्यु-काल में आशंसा और भय से पराजित होने वाला साधना से च्युत हो जाता है तथा अनासक्त और अभय रहने वाला साधना के शिखर पर पहुंच जाता है। इसीलिए आगमकार का निर्देश है कि मृत्यु के उपस्थित होने पर मूढ़ता उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। मूढता से बचने की तैयारी जीवन के अन्तिम क्षण में नहीं होती। वह पहले से करनी होती है। उसकी मुख्य प्रवृत्ति है—शरीर और कषाय का कृशीकरण।

३२. अध्यात्म-फलित व्यवहार

- **अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा।** (२।११८)

तत्त्वदर्शी मनुष्य वस्तुओं का परिभोग अन्यथा करे—जैसे तत्त्व नही जानने वाला मनुष्य करता है, वैसे न करे।

वस्तु का अपरिभोग और परिभोग—ये दो अवस्थाएं है। वस्तु का अपरिभोग एक निश्चित सीमा में ही हो सकता है। जहां जीवन है, शरीर है, वहां वस्तु का उपभोग-परिभोग करना ही होता है। एक तत्त्वदर्शी मनुष्य भी उसका उपभोग-परिभोग करता है और तत्त्व को नही जानने वाला भी। किंतु इन दोनों के उद्देश्य, भावना और विधि में मौलिक अन्तर होता है—

व्यक्ति	उद्देश्य	भावना	विधि
तत्त्व को नही जानने वाला	पौद्‌गलिक सुख	आसक्त	असयत
तत्त्वदर्शी	आत्मिक विकास के लिए शरीर धारण	अनासक्त	संयत

३३. मुनि

- **पण्णाणेहिं परियाणइ लोयं, मुणीति वच्चे, धम्मविउत्ति अंजू।** (३।५)

जो पुरुष अपनी प्रज्ञा से लोक को जानता है, वह मुनि कहलाता है। वह धर्मविद् और ऋजु होता है।

• **आवट्टसोए संगमभिजाणति।** (३।६)

आत्मवान् मुनि आसक्ति को चक्राकार स्रोत के रूप में देखता है।

• **सीओसिणच्चाई से निग्गंथे अरइ-रइ-सहे फरुसियं णो वेदेति।** (३।७)

निर्ग्रन्थ सर्दी और गर्मी को सहन करता है। वह अरति और रति को सहन करता है—उनसे विचलित नहीं होता। वह कष्ट का वेदन नहीं करता।

• **अहेगे धम्म मादाय आयाणप्पभिइं सुपणिहिए चरे।** (६।३५)

कोई व्यक्ति मुनि-धर्म में दीक्षित होकर, इन्द्रिय और मन को समाहित कर विचरण करता है।

• **अपलीयमाणे दढे।** (६।३६)

वह अनासक्त और दृढ होकर धर्म का आचरण करता है।

• **सव्वं गेहिं परिण्णाय, एस पणए महामुणी।** (६।३७)

समग्र आसक्ति को छोडकर, धर्म के प्रति समर्पित होने वाला महामुनि होता है।